ध्यान, मनन, चिन्तन

ध्यान करने का उद्देश्य है ध्याता को खोजना ।
ध्याता (वह सत्ता जो इश्वर सत्य या निवाण
का दर्शन करना चाहता है) को खोजे बिना
ध्यान केवल भ्रम का एक यत्र बनता है ।
ध्याता को खोजना उसकी परिसमाप्ति हैं ।
वह सत्य जो यह कहे कि मुझे इश्वर को
या सत्य को खोजना हैं पाना है
वह उसे कभा भी नही पा सकता ।
बुद्धि स्वय सामित है वह उस असीम
या शाश्वत की कभी अनुभूति नही कर सकती ।
बुद्धि की सर्वोच्च अनुभूति केवल यह हो सकती है
कि वह सीमित तथा प्रतिबद्ध है और इसलिए
वह सत्य का दर्शन पाने मे असमर्थ है ।
इस विवेक का उदय होने पर बुद्धि शात हो जाती है ।
बुद्धि के पूर्ण शात होने का अर्थ है—ध्याता का समाप्ति
और ध्यान की भी समाप्ति । ध्यान की ही समाप्ति
मे से ही प्रेम प्रस्फुटित होता है ।

यदिं कोई व्यक्ति भावुक और गम्भीर है तो इसी
क्षण इस प्रस्फुटन की अनुभूति हो सकती है ।
अन्यथा मनुष्य को ध्यान के अनेक भिन्न-भिन्न
उपायो और पद्धतियो के बीच से होकर गुजरना
होता है और उनकी सीमाएँ देखनी होगी ।
ये उपाय और पद्धतियॉ बुद्धि की उपज है
इसलिए वे अधिक सूक्ष्म रूपा मे मै और मेरा
को जीवित बनाये रखती है । इन पद्धतियो के द्वारा
सत्य की खोज की व्यर्थता की जब अनुभूति होती
है तब विवेक का आरम्भ होता है ।

मूल्य रु० 80 00

नई प्रेरणा की दिशा

डॉ० राजेश्वर प्रसाद कौशिक

अनुवादक

कृष्णदत्त भट्ट

ISBN—81-88123-14-5

प्रकाशक
हिमाचल पुस्तक भडार
मरस्वता भडार गाधीनगर
दिल्ली-110031

सस्करण
2003

कला-पक्ष
चतनदास

मूल्य
अस्सी रुपये

मुद्रक
एस०एन० प्रिटस
नवीन शाहदरा दिल्ली-110032

NAI CHETANA KI DISHA (Hindi)
by Dr Rajeshwar Prasad Kaushik
Price Rs 80 00

प्राक्कथन

यह पुस्तक किसी सुविचारित, तक दृष्टि से सुसम्बद्ध किसी विचार-पद्धति या तत्त्वज्ञान की उपज नही है। यह तो क्षण-क्षण की प्रत्यक्षानुभूति अथवा साक्षात्कार की उत्पत्ति है। अत यह पाठक को कुछ सिखाने अथवा उसे कुछ सलाह देने के रूप मे नही है, क्योकि उस रूप मे हाने पर इसका कोइ विशेष अथ न होगा—अथवा उसका ऐसा अथ निकलेगा जो इसके मूल उद्देश्य से सवथा भिन्न होगा। इसे ऐसा स्पष्ट चिन्तन माना जा सकता है जो केवल तभी सुन पडेगा जब कान और हृदय खुल हो और बुद्धि शात हो। यह लेखन जिस प्रकार का है, उसे साहित्यिक दृष्टि से स्वीकार किया जाएगा, ऐसी भी सम्भावना कम है। इसमे जहॉ-तहॉ पुनरुक्तियॉ है जो अनावश्यक या फालतू-सी लग सकती है, परन्तु विचार पर बल देने के लिए ऐसी शैली बनी रहने दी गई है। कुछ शब्द ऐसे है जो भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न अथ प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। अध्यायो का कालक्रम के अनुसार जो क्रम था वह इस पुस्तक मे इसलिए बदला है कि जिससे विचारो की अविच्छिन्नता और एकरूपता आदि से आज तक बनी रहे। परन्तु लेखक ने प्रत्येक अध्याय को अपने मे पूर्ण बनाये रखने की भावना रखी है।

किसी पाठक को हमारा दृष्टिकोण श्री जे० कृष्णमूर्ति के अत्यन्त निकट का लग सकता है, किसी पाठक को ऐसा लग सकता है कि यह पतजलि के योगसूत्रो का अनुवाद है। पर यह ऐसा कुछ नही है। जब मनुष्य को सत्य का दर्शन होता है तो यह अनुभूति समग्र होती है। वह न यह होती है न वह। जहॉ ठीक लगा है, वहॉ पर अध्यायो के अन्त मे योगसूत्र दे दिए गए है। वे लेखक के समर्थन मे अधिकृत प्रमाण के रूप मे उपस्थित नही किए गए है, अपितु इसलिए दिए गए है कि जब किसी को प्रत्यक्षानुभूति होती है तो उसे प्रत्यक्ष विरोधो के पीछे भी समन्वय की झॉकी दीख पडती है। साक्षात्कार सदेव नवीन होता है। वह सदैव वर्तमान काल मे होता हैं। परम्परा, रुचि तो पुरातन है—परन्तु यदि उसकी क्रोड मे, उसके अन्तस्तल मे सत्य पारबद्ध न होता, तो वह परम्परा स्थापित ही न होती, बनती ही

नहीं । मानवीय मस्तिष्क मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के लिए इस सत्य को पकडता है और उसे संगठित करता है । तब वह निष्क्रिय जड हो जाता है और पत्थर बन बैठता है । यह तो केवल प्रत्यक्षानुभूति या साक्षात्कार की ही अव्याख्येय शक्ति है कि वह इस सत्य को मुक्त तथा स्वतत्र करती है और परम्परा के मार्ग मे आने वाले गड्ढो से बचाती हुई मनुष्य को आगे बढाती है ।

इस पुस्तक को पढते समय पाठक को हमारी सलाह है कि वह कोई निष्कर्ष न निकाले । निष्कर्ष निकालना सबसे सरल बात है, पर यदि पाठक मे समझ है तो वह शब्दो के पीछे की भावना को समझ जाएगा । यह समझ बुद्धि से नही आती । यह केवल तब आती है, जब हृदय खुला होता है और पूर्ण मनोयोग से इसे समझने का प्रयत्न किया जाता है ।

जिन लोगो के पास धैर्यपूर्वक इसे पढने का समय नही है उनके लिए इसका साराश इस प्रकार किया जा सकता है

'देखो और सुनो पर विश्वास मत करो । तुम जिस बात को समझते नही, उसे दोहराओ मत । अपने प्रति ईमानदार बनो । यदि तुम्हारे हृदय मे यह ईमानदारी और सादगी होगी तो सत्य स्वय आकर तुम्हारा दरवाजा खटखटाएगा ।"

—राजेश्वर प्रसाद कौशिक

प्रकाशकीय

'टुवड्स ए न्यू काशसनैस' डॉक्टर आर० पी० कौशिक द्वारा लिखी पहली पुस्तक है जिसे वे अत्यन्त मौलिक और बोधगम्य रचना मानते थे। वे प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए आजीवन बल देते रहे। वह यह महसूस करते थे कि प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसकी तुलना में लिखित शब्द या ग्रन्थ अत्यन्त घटिया विकल्प होते है।

परन्तु अब जब उनका देहान्त हो गया है, अब उनसे प्रत्यक्ष मिलकर सम्पर्क करना असम्भव हो गया है। अब हम डॉक्टर कौशिक के लिखित शब्दो द्वारा ही उनके विचार और बोधशक्ति का यथासम्भव अधिकतम प्रसार करने का प्रयत्न कर रहे है। हम आशा करते है कि जो हिन्दीभाषी लोग उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क का लाभ नही उठा सके, वे उनके इस अक्षर-शरीर से लाभ उठा सकेगे। इस उद्देश्य के साथ हम 'टुवड्स ए न्यू काशसनेस' का यह हिन्दी अनुवाद नम्रतापूर्वक उनके समक्ष उपस्थित कर रहे है।

नही । मानवीय मस्तिष्क मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के लिए इस सत्य को पकडता है और उसे संगठित करता है । तब वह निष्क्रिय जड हो जाता है और पत्थर बन बैठता है । यह तो केवल प्रत्यक्षानुभूति या साक्षात्कार की ही अव्याख्येय शक्ति है कि वह इस सत्य को मुक्त तथा स्वतन्त्र करती है और परम्परा के मार्ग मे आने वाले गड्ढो से बचाती हुई मनुष्य को आगे बढाती है ।

इस पुस्तक को पढते समय पाठक को हमारी सलाह है कि वह कोई निष्कर्ष न निकाले । निष्कर्ष निकालना सबसे सरल बात है, पर यदि पाठक मे समझ है तो वह शब्दो के पीछे की भावना को समझ जाएगा । यह समझ बुद्धि से नही आती । यह केवल तब आती है, जब हृदय खुला होता है और पूर्ण मनोयोग से इसे समझने का प्रयत्न किया जाता है ।

जिन लोगो के पास धैर्यपूर्वक इसे पढने का समय नही है उनके लिए इसका साराश इस प्रकार किया जा सकता है

"देखो और सुनो, पर विश्वास मत करो । तुम जिस बात को समझते नही, उसे दोहराओ मत । अपने प्रति ईमानदार बनो । यदि तुम्हारे हृदय मे यह ईमानदारी और सादगी होगी तो सत्य स्वय आकर तुम्हारा दरवाजा खटखटाएगा ।"

—राजेश्वर प्रसाद कौशिक

प्रकाशकीय

टुवड्स ए न्यू काशसनैस डॉक्टर आर० पी० कौशिक द्वारा लिखी पहली पुस्तक है जिसे वे अत्यन्त मौलिक और बोधगम्य रचना मानते थे। वे प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए आजीवन बल देते रहे वह यह महसूस करते थे कि प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसकी तुलना में लिखित शब्द या ग्रन्थ अत्यन्त घटिया विकल्प होते है।

परन्तु अब जब उनका देहान्त हो गया है, अब उनसे प्रत्यक्ष मिलकर सम्पर्क करना असम्भव हो गया है। अब हम डॉक्टर कौशिक के लिखित शब्दो द्वारा ही उनके विचार और बोधशक्ति का यथासम्भव अधिकतम प्रसार करने का प्रयत्न कर रहे है। हम आशा करते है कि जो हिन्दीभाषी लोग उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क का लाभ नही उठा सके, वे उनके इस अक्षर-शरीर से लाभ उठा सकेगे। इस उद्देश्य के साथ हम 'टुवड्स ए न्यू काशसनैस' का यह हिन्दी अनुवाद नम्रतापूर्वक उनके समक्ष उपस्थित कर रहे है।

नहीं। मानवीय मस्तिष्क मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के लिए इस सत्य को पकड़ता है और उसे सगठित करता है। तब वह निष्क्रिय जड हो जाता है और पत्थर बन बैठता है। यह तो केवल प्रत्यक्षानुभूति या साक्षात्कार की ही अव्याख्येय शक्ति है कि वह इस सत्य को मुक्त तथा स्वतत्र करती है और परम्परा के मार्ग मे आने वाले गड्ढो से बचाती हुई मनुष्य को आगे बढाती है।

इस पुस्तक को पढते समय पाठक को हमारी सलाह है कि वह कोई निष्कर्ष न निकाले। निष्कर्ष निकालना सबसे सरल बात है, पर यदि पाठक मे समझ है तो वह शब्दो के पीछे की भावना को समझ जाएगा। यह समझ बुद्धि से नही आती। वह केवल तब आती है, जब हृदय खुला होता है और पूर्ण मनोयोग से इसे समझने का प्रयत्न किया जाता है।

जिन लोगो के पास धैर्यपूर्वक इसे पढने का समय नही है उनके लिए इसका साराश इस प्रकार किया जा सकता है

'देखो और सुनो पर विश्वास मत करो। तुम जिस बात को समझते नही, उसे दोहराओ मत। अपने प्रति ईमानदार बनो। यदि तुम्हारे हृदय मे यह ईमानदारी और सादगी होगी तो सत्य स्वय आकर तुम्हारा दरवाजा खटखटाएगा।"

—**राजेश्वर प्रसाद कौशिक**

प्रकाशकीय

'टुवर्ड्स ए न्यू कांशसनैस' डॉक्टर आर० पी० कौशिक द्वारा लिखी "हली" पुस्तक है जिसे वे अत्यन्त मौलिक और बोधगम्य रचना मानते थे। वे प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए आजीवन बल देते रहे। वह यह महसूस करते थे कि प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसकी तुलना में लिखित शब्द या ग्रन्थ अत्यन्त घटिया विकल्प होते है।

परन्तु अब जब उनका देहान्त हो गया है, अब उनसे प्रत्यक्ष मिलकर सम्पर्क करना असम्भव हो गया है। अब हम डॉक्टर कौशिक के लिखित शब्दो द्वारा ही उनके विचार और बोधशक्ति का यथासम्भव अधिकतम प्रसार करने का प्रयत्न कर रहे है। हम आशा करते है कि जो हिन्दीभाषी लोग उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क का लाभ नही उठा सके, वे उनके इस अक्षर-शरीर से लाभ उठा सकेगे। इस उद्देश्य के साथ हम 'टुवर्ड्स ए न्यू कांशसनैस' का यह हिन्दी अनुवाद नम्रतापूवक उनके समक्ष उपस्थित कर रहे है।

क्रम

एक नवीन चेतना की खोज

किसी नवीन वस्तु को खोजने, उस पर दृष्टिपात करने, उसका आविष्कार करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पूरे मनोयोग से, सम्पूर्ण एकाग्रता से उस पर अपना ध्यान लगाएँ। जो चित्त नाना प्रकार के अशान्त और क्षोभकर विचारो, भयो, चिन्ताओ और पूर्वाग्रहो से भरा पडा है, वह किसी भी वस्तु के अर्थ और महत्त्व को समझने, उसका निरीक्षण करने मे असमर्थ रहता है। ऐसा चित्त केवल वही देखेगा जो देखना चाहेगा और वही सुनेगा जो सुनना चाहेगा। सक्षेप मे हम यह कह सकते है कि ऐसा चित्त किसी भी वस्तु की ओर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने मे असमर्थ रहता है। वह जो कुछ देखता है वह उसका अपना ही प्रक्षेपण मात्र होता है। प्रत्येक मानव-चित्त लाखो वर्षो के अपने पुराने इतिहास और अपनी पुरातन पृष्ठभूमि से बुरी भाँति परिबद्ध रहता है। अत किसी वस्तु या तत्त्व का 'दर्शन' करने के लिए उस पर विधिवत् दृष्टिपात करने के लिए यह आवश्यक है कि परिबद्धता पूर्णरूपेण समाप्त कर दी जाए।

इस परिबद्धता की समाप्ति की खोज मे ध्यान-साधना की कई पद्धतियाँ निकल आई है। ध्यान की किसी भी पद्धति मे इन दो प्रश्नो का समाधान अपेक्षित है

• मानव-चित्त के लिए क्या यह सम्भव है कि वह अपनी परिबद्धता से ऊपर उठ सके—अर्थात् वह अपनी नाना प्रकार की आशाओ, आकाक्षाओ, भयो और पूर्वाग्रहो से मुक्त हो सकेगा ?

• अपनी परिबद्धता से ऊपर उठने वाले चित्त के लिए क्या यह सम्भव है कि वह फिर किसी नई परिबद्धता से भी मुक्त बना रहेगा ?

अनेक ध्यान-पद्धतियाँ पहले प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देती है । प्राचीन परिबद्धता के स्थान पर एक नई परिबद्धता खडी करने का उनका लक्ष्य रहता है । पर अधिकाश ध्यान-पद्धतियाँ दूसरे प्रश्न का उत्तर देने मे असमर्थ रहती है । दूसरा प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और जब तक उसका सही-सही उत्तर नही दिया जाएगा तब तक मानवीय समस्या का समुचित समाधान नही निकल सकता । प्रत्येक परिबद्धता, फिर वह चाहे जितनी मतोषजनक हो और चाहे जितनी नवीन हो, आगे चलकर कालान्तर मे पुरानी पड जाएगी और तब वह भी मानव-चित्त के समक्ष पहले जैसी ही समस्याएँ खडी कर देगी ।

जीवन सतत परिवर्तनशील और प्रवाहमय है । उसकी गतिविधि सतत नई-नई चुनौतियाँ प्रस्तुत करती रहती है । चित्त जब तक सभी प्रकार की परिबद्धताओ से पूर्णत मुक्त नही होगा तब तक वह इन चुनौतियो का सामना करने मे अपने को असमर्थ पाएगा और तब वह अनियत सघर्ष और शोक का पात्र बनेगा । इन दो कसौटियो पर खरा उतरने के लिए ध्यान की पद्धति ऐसी होनी आवश्यक है जो मानव-चित्त को ऐसी स्थिति मे ले जाए जहाँ वह केवल पूर्वाग्रहो, भयो और सघर्षो से तो मुक्त रहे ही उसके साथ-साथ अत्यन्त सक्रिय, शक्तिशाली और सवेदनशील भी बना रहे ।

अधिकाश ध्यान-पद्धतियाँ इन उत्तेजनाओ और भयो के उदात्तीकरण के लिए कितनी ही प्रक्रियाओ, विश्वासो और तत्त्वज्ञान पर बल देती है । परन्तु इन्ही प्रक्रियाओ के अनुष्ठान मे चित्त अपनी सारी शक्ति और सवेदनशीलता खो बैठता है ।

अब प्रश्न है कि इस प्रकार की मानसिकता चित्त के भीतर कैसे विकसित हो ? जब कभी किसी नइ समस्या मे हमारी रुचि होती है, तब हम उस पर एकाग्रता और गम्भीरता से विचार कर सकते है । यही एकाग्रता और गम्भीरता ऐसी तीव्रता उत्पन्न करती है—एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करती है—जो चित्त को शान्त कर

देती है और अन्य आकांक्षाओ को निकाल बाहर कर देती है । अपनी प्रयोगशाला मे व्यस्त वैज्ञानिक के चित्त की सम्भवत यही स्थिति होती है । निरीक्षण तथा प्रत्यक्ष ज्ञान का यह गुण तकनीकी क्षेत्र मे प्राप्त करना अधिक सरल हो सकता है पर यदि हम अपनी निजी चेतना—अपने विश्वासो विचारो, भयो और लालसाओ की ओर वैसी ही एकाग्रता से दृष्टिपात कर सके तो समस्या का समाधान हो जाएगा ।

हमारा जो परिचित दैनन्दिन लौकिक अस्तित्व है उसके अतिरिक्त सत्य अथवा इश्वर जैसी भी कोई वस्तु है क्या ? यदि हम इस बात की खोज करना चाहे इसका पता लगाना चाहे तो उसके लिए उसी प्रकार के शान्त और सबल चित्त की सबसे पहले पूर्ण आवश्यकता है ।

ध्यान-सम्बन्धी अनेक प्राचीन पद्धतियाँ है और आए दिन हम सुनते है कि कोई व्यक्ति इस उद्घोषणा के साथ एक नए प्रकार की ध्यान-पद्धतियाँ लेकर उपस्थित करता है कि हमारी इस पद्धति द्वारा हमारे अनुयायियो के अत्यन्त शीघ्र परमानन्द और सुख की निश्चय ही प्राप्ति हो जाएगी । ऐसी प्रत्येक नवीन पद्धति इस बात का दावा करती है कि हमारी ही पद्धति एकमात्र प्रामाणिक है तथा अन्य पद्धतियाँ यदि सर्वथा भ्रामक और खोटी नही है तो आज के युग के लिए अपर्याप्त और सर्वथा अनुपयुक्त तो है ही ।

यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि आज विश्व ऐसे नैतिक और सामाजिक सघर्ष के बीच से होकर गुजर रहा है जैसा आज से पहले कभी नहीं था । आधुनिक मानव स्पष्ट रूप से अव्यवहार्य-अप्रचलित पुराने मूल्यो को अस्वीकार कर बैठा है परन्तु वह नया लगर खोज पाने मे अभी तक असमर्थ रहा है, और वह सतत परिवर्तनशील और जटिल आधुनिक जीवन की कठोर चुनौतियो का सामना करने मे अपने को असमर्थ पा रहा है । तकनीकी क्षेत्र मे अधिकतम प्रगति होने के बावजूद मानव उस बढती हुई निराशा का सामना नहीं कर पा रहा है जो हाल मे ही अत्यन्त तीव्रगति से बढती हुई जनसख्या के कारण उत्पन्न हुई है । इधर तो भौतिक समृद्धि बढती चल रही है, जीवन के नए-नए तथ्यो का आविष्कार हो रहा है बाह्य प्रकृति पर मानव का उत्तरोत्तर अधिकाधिक आधिपत्य हो रहा है, उधर इसी के साथ-साथ मानव आत्म-विनाश के सर्वनाशी साधनो का अम्बार लगाता चल रहा है । मानव के भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक अस्तित्व के लुप्त होने का सकट लगातार बढ रहा है । यह जटिलता मानवीय व्यक्तित्व को विखण्डन की दिशा मे ले जा रही है और

उसके चलते उन्माद, मनोविकृति, आत्महत्या, अपराध और हिमा की घटनाएँ दिन-दिन बढती चल रही है ।

ऊपर से सम्पन्न और समृद्ध दिखने वाले आधुनिक जीवन मे असुरक्षा और निराशा की जा अन्तर्निहित भावना सतत विराजमान है, उसमे आज के हताश मानव को एक नवीन विश्वास, एक नवीन आशा और सम्भवत एक नवीन जीवन-पद्धति की तीव्र आवश्यकता हें जो मान्व के दैनन्दिन जीवन की समस्याओ के निराकरण मे उसकी सहायता कर सके और उसे ऐसी शक्ति प्रदान कर सके जिसके सहारे वह आज के जटिल आधुनिक जीवन की गम्भीर चुनौतियो का डटकर सामना कर सके । ऐसी परिस्थितियो मे फॅसे होने के कारण सामान्य मानव सहज ही ऐसे किसी भी व्यक्ति पर विश्वास करने को और उसका अनुगमन करने को उत्सुक रहता है जो उसे इस बात का आश्वासन दे कि मेरे पास चमत्कारी रामबाण और शीघ्र लाभकारी औषध है । यथार्थत यही कारण है कि बाजारूपन मे दक्ष, सम्मोहक व्यक्तित्व वाला कोई भी व्यक्ति व्यापक प्रचार, धुआँधार विज्ञापन तथा प्रचारको की लम्बी सेना की सहायता के बल पर अपने अनुयायियो की भारी भीड जुटा लेता हें । परन्तु जैसा कि प्रत्येक नए साहसिक कार्य के सम्बन्ध मे होता है कि आरम्भिक जोश शीघ्र ही ठण्डा पड जाता है और तब लगभग इनके अनुयायियो का भी भ्रम टूटने लगता है । उस स्थिति मे ऐसे व्यक्ति या तो सपूर्णत मानवद्वेषी या दोषद्रष्टा बन बैठते है या वे फिर किसी नए मसीहा के आगमन की आशा बॉधने लगते है । ऐसी हालत मे पहले से ही फैला हुआ भ्रम और अधिक बढने लगता है और इस दु खद परिस्थिति से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नही सूझता ।

आज ऐसे बहुत-से लोग है जो जीवन की मूल समस्याओ के समाधान की अपेक्षा पलायन के जाले मे अपने को फॅसाए रखने मे अधिक रुचि लेते है । ऐसे लोग आज एक 'वाद का अनुगमन करते दिखेगे तो कल दूसरे वाद का । आज एक नेता के पीछे है तो कल दूसरे के । ये नए से नए समूह मे ही हमे घूमते दिखाई पडेगे। परन्तु इन लोगो के अतिरिक्त कुछ गम्भीर प्रकृति के ऐसे लोग भी है—भले ही अभी उनकी सख्या कम है, पर वह उत्तरोत्तर बढती चल रही है, जो अपने समक्ष उपस्थित की गई बातो पर अन्वेषण करना, उनका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना और उन पर प्रयोग करना पसन्द करेगे । वे उसके गूढार्थो, निहितार्थों को पूर्णरूपेण समझे बिना किसी भी विश्वास या श्रद्धा को अग्रगामी होने के कारण ही स्वीकार नहीं

कर लेगे । ऐसे ही प्रबुद्ध पाठको को हम आमत्रित करते है कि वे एक नवीन चेतना की सम्भावना विषयक हमारी शोध और अन्वेषण मे हमारे सहभागी बने ।

अस्तु, आज जैसी स्थिति है उसमे नकारात्मक पद्धति का ही आश्रय लेकर हम ध्यान-साधना के वास्तविक मर्म तथा उसके महत्त्व तक पहुँच सकते है । वह कोई विधि, पद्धति अथवा प्रणाली नहीं है, अपितु वह है जीवन का मार्ग—निरीक्षण, अवलोकन का एक मार्ग या रीति ।



जीवन का अर्थ और महत्त्व

हम जन्म लेते है, बढने-पनपते है, हमारे बाल-बच्चे होते है और फिर हम ढलने लगते है, मर जाते हैं। हम वस्तुओ को और जीवन के कार्यकलापो को इतना अधिक महत्त्व देते है—हम उनके पीछे दौडते हैं, उन्हे अपने अधिकारो मे करते है, और यह सब करने मे हमे अथक श्रम और सघर्ष करना पडता है। पर अन्त मे हम कहीं नहीं पहुँच पाते, मृत्यु हमसे सब कुछ छीन ले जाती है। यह देखकर हम यह समझना चाहते हैं कि यह सब क्यो ? किसलिए ? हम जीवन का अर्थ और महत्त्व समझना चाहते है। अपनी इस खोज मे हम अनेक दिशाओ की ओर घूमते है, पर हमे मिलता क्या है ?

जीवविज्ञान (Biology) जीवन का विज्ञान है, परन्तु वह जीवन की बाहरी, सतही क्रियाओ का ही अध्ययन और वर्णन करता है। वह केवल चेतन और अचेतन के सतही अन्तरो का ही वर्णन करता है, परन्तु वह हमे यह नहीं बताता कि जीवन क्या है ? कुछ और गहराई मे उतरने के लिए हम मनोविज्ञान की ओर जा सकते है, परन्तु वह केवल मन की क्रियाओ का ही वर्णन करता है और वह भी हमे कुछ अधिक दूर तक नहीं ले जाता। मन के मूल स्रोत के विषय मे वह हमे कुछ नहीं बताता। विचार के उद्गम और उसके अत के विषय मे वह हमे कोई ज्ञान नही

प्रदान करता । तब हम उससे सतुष्ट न होकर परा-मनोविज्ञान (Para Psychology) की ओर मुडते हैं और मनोजगत् के क्षेत्र की छानबीन करते हैं । जीवन की पहेली के सुलझाव के लिए रहस्यवाद को टटोलते है । इस प्रयत्न मे हम कुछ सन्तोषजनक उत्तर पा सकते है । हमे आशा, सुख-सुविधा और शान्ति, सन्तोष की किरण दिखाई पड सकती है । परन्तु ये उत्तर तर्क और वैज्ञानिक विचारधारा से मेल नही खाते । अत हमारा मन विभाजित हो जाता है । हमारा दृष्टिकोण समग्रतापूर्ण नहीं हो पाता । इसका उपचार क्या है ? हम क्या है ? इस समस्या का कोई हल भी है या हम आजीवन सतत इसी तरह खोज और सघर्ष मे ही अपने को बर्बाद करते रहेगे ?

अपनी खोज या जिज्ञासा को अधिक सार्थक बनाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है कि हम यह पता लगाएँ कि हमारी जिज्ञासा का मुख्य उद्देश्य क्या है ? हम क्या खोजना चाहते है और क्यो ? हमारे मन मे इसके लिए एक बौद्धिक उत्सुकता हो सकती है परन्तु वह हमे बहुत दूर तक नहीं ले जाती । जीवन के विविध गोचर तत्त्वो के अध्ययन के लिए बौद्धिक उत्सुकता निश्चय ही सहायक हो सकती है, पर जीवन की कुछ गहन समस्याओ को वह केवल बौद्धिक समाधान दे सकती है, परन्तु ऐसे बौद्धिक निरूपण द्वारा मौलिक रूप मे समस्या हल नहीं हो पाती ।

जीवन का अर्थ खोजने के लिए हमे अपने ही जीवन की ओर मुडना पडेगा । हमारे जीवन के किसी भी क्रियाकलाप का उद्देश्य क्या है ? क्या उसका लक्ष्य प्रसन्नता या आनन्द नही है ? सुबह से शाम तक, बचपन से बुढापे तक हम जो असख्य कार्य करते रहते है, क्या हम उनके द्वारा सुख की ओर ही नहीं दौड रहे है ? और इस अनन्त दौड-धूप तथा नाना क्रियाकलापो, प्रयत्नो और सघर्षों के बावजूद हममे से कितने आदमी कह सकते है कि हम सचमुच सुखी है ? प्रश्न है कि हम यह सुख खोजते क्यो है ? क्या हम कोई ऐसी चीज खोज रहे है जो कि हमारे पास है अथवा ऐसी चीज खोज रहे है जो हमारे पास नहीं है ? हम ऐसी कोई चीज कभी नहीं खोजते जो हमारे पास होती है । तो जब हम सुख खोजते है तो क्या उसका यह अर्थ होता हैं कि हमारे पास उसका अभाव है ? हममे से कुछ लोगो के मन मे अपने जीवन मे कुछ पा लेने या अधिकृत कर लेने का सन्तोष हो सकता है जो उनके अपने मनमाने लक्ष्य के ढाँचे के भीतर सही होता है । पर सामान्यत

यही देखा जाता है कि किसी के मन मे स्थायी मन्तोष नही है । हम जिसे सन्तोष कहते हैं उसकी क्षणिक चमक दिखाई पडती है और बाद मे फिर उकताहट हमे घेर लेती है । फिर सतोष की प्राप्ति के लिए उसके पीछे हमारी अन्तहीन दौड जारी हो जाती हैं । यह तलाश, यह दौड अन्तत बोरियत से बचाव का एक साधन बन जाती है । यदि हम इस दौड को चालू नही रखना चाहते तो हम निरीक्षण का एक ऐसा मापदण्ड आरम्भ कर सकते है जो केवल नीचे की ओर देखता है । हम ऐसे ही लोगो के साथ अपने भाग्य की तुलना करने लगते है जो हमसे कम भाग्यशाली और हमसे कम सुविधा-प्राप्त है । लेकिन यह सतोष उसी क्षण हवा मे गायब हो जाता है जब हम ऊपर की ओर देखते है औ्ग उन लोगो से अपने भाग्य की तुलना करने लगते है जो हमसे अधिक सुविधा-प्राप्त है । यह सतोष सच्चा सतोष नही है । यह केवल एक प्रतिरोध शक्ति का प्रदर्शन है जिससे हम दूसरो से बाहर होकर स्वयम् को विशेष मानते है । अस्तु—हम इस मानसिक प्रतिरोध शक्ति का विस्तार करने के स्थान पर बिना अटकाव के सुख और सतोष की अन्तहीन दौड मे लगे रहते है तो उसके चलते सामाजिक समस्याएँ तो उत्पन्न होती ही है, हमारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी नीचे गिरने लगता है ।

हम जब अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की सतुष्टि की प्रक्रिया मे लगते है तो किसी मात्रा मे उसके साथ सवेदिक (सवेदी) सुख भी आ जाता है जो कि स्वाभाविक है और सम्भवत उसका आवश्यक सगी-साथी है । इन सवेदिक सुखो को नष्ट कर डालना आवश्यक नही है । तपस्वी लोगो ने बडे पैमाने पर जिन उपायो का आश्रय लिया है वे नकारात्मक सुख के अतिरिक्त और कुछ नही थे । भौतिक स्तर पर सवेदात्मक सुख-दु ख एक सुरक्षात्मक दैंहिक कार्य करते रह सकते है । पर इन सवेदात्मक सुखो को आगिक आवश्यकताओ से अलग कर देने से और एकमात्र इन्ही सुखो के पीछे दौडने से मस्तिष्क कुद हो जाता है और स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है । सवेदात्मक दु ख की कोई भी मात्रा क्यो न हो, उस समस्या का अपेक्षाकृत सरल समाधान निकल सकता है । या तो उसका उपचार हो जाता है और यदि वह असाध्य होती है तो देर-सबेर मृत्यु आकर कष्ट का अध्याय समाप्त कर देती है । परन्तु जब हम सवेदी सुखो से मनोवैज्ञानिक सुख प्राप्त करने लगते है, तो हम उसके साथ-साथ मनोवैज्ञानिक दु ख की एक अन्तहीन सम्भावना खडी करते है—जिसका कि काल और क्षेत्र असीम लगता है । यो सुख और दु ख बिल्कुल

परस्पर-विरोधी जान पडते है परन्तु वस्तुत इन दोनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है । उनमे कोई असीम अन्तर नही है, केवल एक आनुपातिक अन्तर है । भौतिक स्तर पर हमारे चमडे पर यदि तापमान और दबाव का प्रयोग किया जाए तो वे किसी एक मात्रा तक ही सुखद प्रतीत होते है, उस मात्रा के आगे वे दु खद प्रतीत होने लगते है । मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह अन्तर और भी कम हो जाता है । यद्यपि सामान्य मानवीय चेतना उसे शायद ही कभी देख पाती है । मनोवैज्ञानिक सुख-दु ख विचार के माध्यम से अपने भौतिक सहयोगियो पर ही खडे होते है । इन सुखो पर कुछ देर तक चिन्तन करने से इच्छा उत्पन्न होती हे । कामना की शक्ति बडी विनाशक होती हैं । पहले तो कामना अपनी सतुष्टि के लिए कोलाहल मचाती है, परन्तु सतुष्टि तो क्षणिक होती है—विशेषत नब जब मन या मस्तिष्क अशान्त और उत्तेजित रहता है । प्राय ऐसे अवसर आते है जब ऐसा लगता है कि जितनी बेचैनी ओर प्रयत्न का मूल्य चुकाया गया उसके अनुपात मे जो क्षणिक सतोष मिला, वह उसका एक नगण्य पुरस्कार था । इस कामना को रोकने की आवश्यकता की ओर हमारी रुझान होती है परन्तु इसके नियत्रण अथवा विनाश के लिए हम जा सघर्ष करते हे उसमे हमे अत्यधिक प्रयत्न करना पडता है और उसमे हमारी बहुत बडी शक्ति बर्बाद हो जाती है । मानस यदि दुर्बल रहता हे तो हम जो प्रतिज्ञाएँ करते है उन्हे शीघ्र ही तोड बैठते है और उसके फलस्वरूप हममे अपराध की भावना पनपने लगती है और मानसिक सघर्ष उत्पन्न हो जाता है । यदि हमारा मानस अधिक शक्तिशाली होता है तो हम अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा अपनी कामनाओ को कुचल सकते हैं । तब उसके चलते हमारी ग्रहणशीलता, सवेदनशीलता कुद हो जाती है और हमारा व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है । हम एक शात, अनुद्विग्न, प्रसन्नवदन वाले तथा कथित सत के रूप मे दिखाई पड सकते हे । पर हमारे भीतर अशान्ति की ज्वाला धधकती रहती है । यो हम देखते है कि कामना और वासना दोधारी तलवार है । हम उसकी सतुष्टि करते है तो वह पश्चात्ताप और ग्लानि ले आती है । यदि हम उसे दबाते है तो वह हमे उससे भी अधिक अशान्ति और क्षोभ म उतार देती है ।

इच्छा का कही अन्त नही होता । उसम 'और' और की हवस भरी रहती है । जब देखो तब वह किसी नए रूप मे दिखाई पडती हे । बार बार क्षणिक सतोष के बाद वही बोरियत आ जाती है । वही निराशा आ जाती है । अत बिना किसी

नवीनता के, बिना किसी सृजनात्मकता के सुख की पुनरावृत्ति सतत ह्रास की ओर चलती हैं । सुख उत्तरोत्तर घटता चला जाता है । तब सुख की खोज हमारे जीवन का सबसे बडा क्लेश बन बैठती है । इस सघर्ष और दुविधा को देखकर बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे बुद्धिवादी लोगो ने—बौद्धिक निरूपण के आधार पर सकटमुक्त सुख के साधनो की सलाह दी है । 'कोन्क्वेस्ट ऑफ हैपिनेस नामक उनकी पुस्तक मे उन लोगो के लिए सिफारिश की गई है जो बौद्धिक समाधानो के परे जाकर समस्या के मूल तक जाने का कष्ट नही उठा सकते । मौलिक, बुनियादी रूप से समस्या का समाधान चाहने वाले, गम्भीर और निश्छल लोगो के लिए रसेल के समाधान कोई विशेष मूल्य नही रखते, वे अत्यधिक सीधे, सरल और विरोधाभासो से भरे पडे है ।

भौतिक जगत् मे सुख और दु ख एक बडी मात्रा मे ठोस और प्रत्यक्ष रूप मे होते है जब कि मनोवैज्ञानिक जगत् मे वे अन्तर्बोध या विचार पर पूर्णत आश्रित होते है । विचार लचीला होता है और वह विपरीत दिशाओ मे बडी तेजी से घूमने की क्षमता रखता है । यह आवश्यक नही है कि वह सदैव वस्तुनिष्ठ वास्तविकता के अनुरूप ही हो । वस्तुत वह अपने को वास्तविकता से दूर हटाकर पूर्णत अनुमानात्मक और काल्पनिक स्वरूप धारण कर ले सकता है । ऐसी विचारधारा घोर उत्पीडन और सघर्ष का स्रोत बन सकती है और उसके फलस्वरूप अनन्त कष्ट भोगना पड सकता है । अत सुख के रूप मे विचार को हमारे जीवन के भौतिक स्तर को यथोचित रूप मे देने से पहले ही, समझकर समाप्त कर डालना आवश्यक है ।

हम अपनी विचार-प्रक्रिया द्वारा जो पीडा खडी करते है जिसके लिए प्रत्यक्ष रूप से स्वय हम ही उत्तरदायी है, उसके अतिरिक्त इस अनुदार निर्दयी जगत् मे हमे एक अन्य प्रकार की पीडा का भी सामना करना पडता है । हममे प्रतिभा और क्षमताएँ हो सकती है, परन्तु जब तक हमारे पीछे प्रभावशाली समर्थन न हो तब तक उन्हे प्राय न तो स्वीकृति मिल पाती है, न प्रोत्साहन । सिफारिश ही सबसे बडी योग्यता बन बैठती है । न प्रतिभा को कोई पूछता है, न कार्यकुशलता को । इससे हृदय को बडी ठेस लगती है और निराशा उत्पन्न होती है । प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि चालाक और बेईमान लोग सफल हो जाते है, फूलते-फलते है और सीधे तथा सज्जन पुरुष असफल हो जाते है और कष्ट भोगते है । अत असफलता का यह कष्ट सहना पडता है । फिर भी यदि हममे से कुछ सौभाग्यशाली आर्थिक दृष्टि से

सफल हो जाते है तो भी वे इस स्वार्थी जगत् म अपने को अकेला महसूस करते है, क्योकि मैत्री और प्रेम के नाम पर अनेक बार हमारा शोषण किया गया है । अत या तो हमे यह दु ख झेलना पडता है कि काइ हमे प्यार नही करता अथवा हम जिन्ह प्रेम करते है वे हमे छोडकर चल देते ह या मृत्यु उन्हे हमसे छुडा ले जाती ह । सच्चे प्रेम और मैत्री के अभाव मे हमारे जीवन म एक बडा व्यवधान, एक बडा खोखलापन आ जाता है जिसके कारण हमार समक्ष एक भयक", भीषण भय आ खडा होता है । उससे बचने के लिए हम मनोरजन, नशा या काम्वृत्ति जैसे मार्गो को पकडकर भिन्न-भिन्न दिशाओ म भागा क्रते है । यह बचाव नाम ख्याति, प्रतिष्ठा की पूजा का रूप ले सकता है अथवा किसी सामाजिक सवा, लोकहितकारी काय के आदर्श का रूप ले सकता है । सर्वोच्च मूल्यो के स्तर पर यह पलायन किसी भी आदर्श के लिए जीने का और उसी के लिए प्राणार्पण करने का रूप ले सकता है । कोई प्रभु के हाथो का यत्र बनना चाहते है, उसकी इच्छा को सही मूर्त रूप देना चाहते है अथवा सत्यरूप परमेश्वर की खोज मे लय होकर जीवन बिताना चाहते है । यदि हम अन्तत ऐसे उच्चतम आदर्शो वाले किसी पलायन मे एकाग्र होकर जुटना चाहते है और उसमे सफलता प्राप्त कर लेते है तो एक दिशा मे तो हमारा मन एकाग्र या केन्द्रित हो सकता है पर अन्य क्षेत्रो मे वह जड, मन्द और सवेदनशून्य बन जाता है । जडता के रूप मे दु ख हमारे पीछे लगा रहता है—हम जीवन के अर्थ और महत्त्व को समझने का अवसर खो बैठते है ।

जीवन की सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसका हमे कोई ज्ञान नही है । हम तो केवल दैनिक जीवन मे हमे घुमाने वाली अपनी इच्छा की थोडी-सी आशिक शक्ति का ही ज्ञान रखते है । इच्छा की सतुष्टि होने पर सुख या प्रसन्नता की क्षणिक चमक-दमक आती है और उससे अपेक्षाकृत दीर्घकालीन ऊब, बोरियत या निराशा आ जाती है । प्रत्येक उत्तेजन के उपरान्त अवसाद आता है और बार-बार दोहराए गए उत्तेजन के उपरान्त अन्तत थकावट और क्षय का आना स्वाभाविक है ।

सुख का जितना अनुगमन किया जाता है उतनी ही उसमे छिपी, अन्तर्निहित ऊब गहरी होती जाती है । अत जिस जीवन मे सुख की अनन्त खोज जारी रहती है वह अत्यन्त सतही, छिछला और बदरग बन जाता है । ऊब शायद हमारे सामान्य दैनिक जीवन का एक आवश्यक अग बन गई है । उससे बचाव की कोई सूरत नजर नही आती । ऊब के उपचार की कोई भी खाज दु ख को ही आमत्रित

करती है और उसे घनीभूत बनाती हैं । तो क्या हम दु ख को स्वीकार कर ले ? दु ख के साथ हम समझौता कर ले ? अथवा क्या हम दु ख की प्रशसा के पुल बॉधे या कविता के स्तर पर ले जाकर दु ख की प्रशसा के गीत गाये ? अथवा जैसा कि पिछले दिनो कुछ धार्मिक सगठनो ने किया है, एक महान् वरदान के रूप मे हम दु ख की उपासना करे ? इसमे सन्देह नही कि दु ख मानव को नई-नई ऊँचाइयो की दिशा मे ले जाने वाला उत्प्रेरक रहा है । दु ख से अनेक कविताओ और ललित कलाओ का जन्म हुआ है ।[1] सुख और मतोष हमे आत्मसतोष की निद्रा मे सुला देते है । दु ख की महान् चुनौती ही हमे वह जागरूकता प्रदान करती है जिसके द्वारा ही हमे नए आयामो की दिशा मे बढने मे सहायता मिल सकती है । अत दु ख की शक्ति को समझ लेना आवश्यक है—भूतकाल मे मनुष्यो ने दु ख से बचने के असख्य बहाने खोज निकाले है परन्तु वे दु ख को कभी ठीक से समझ नहीं सके और इसीलिए वे दु ख का रूपान्तरण नही कर सके ।

जीवन का अर्थ और महत्त्व समझने के लिए दो बाते अत्यन्त आवश्यक है । पहली बात तो यह है कि हम ऐसे सभी तत्त्वज्ञानो को नमस्कार कर ले जो इन्द्रियो की सवेदन शक्ति को सीमित करने पर बल देते है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्रियो को कुण्ठित या कुद करने की शिक्षा देते है । किसी नई और व्यापक वस्तु की खोज के लिए हमे उच्चतर सवेदनशीलता और इन्द्रियो की सहजानुभूति की आवश्यकता होती है । इन्द्रियो को इस प्रकार का शिक्षण देना चाहिए कि वे किसी अन्तर्बाधा के बिना पूर्ण रूप से और समग्र रूप से अपना काम कर मके, फिर भी वे विषय-लिप्त न हो । दूसरी बात यह है कि हम दु ख के बहानो को अस्वीकार कर दे, दु ख की ओर पूरा ध्यान दे और देखे कि किस प्रकार उसका रूप-परिवर्तन किया जा सकता है ।

हम देख चुके है कि सुख की खोज केवल दु ख ले आती है, तो क्या इसका यह अर्थ है कि जीवन मे सच्चा सुख कहीं है ही नहीं ? यदि हम अपने-अपने जीवन पर विचार करते है तो देखते है कि जीवन मे कभी-कभी बिना किसी स्पष्ट कारण के ऐसे दुर्लभ, अनूठे क्षण आ जाते है जिनमे व्यापकता, सौदर्य और उल्लास की बडी भावना भरी रहती है । उनका कारण न तो हमारी कोई उपलब्धि

1 वेदना है विकास का मूल ।

होनी है न किन्ही वस्तुओ का हमारा स्वामित्व हाता है और न हमारी किन्ही कामनाओ की पूति होती है । यह उल्लास भाव उस समय आ सकता है जब कि हम किसी सुन्दर चहर को देख रह हो अथवा सूर्यास्त की बेला मे आकाश मे बादला पर सुन्दर रगा क खेल देख रहे हा, अथवा तारोभरी रात मे पूण चन्द्र को पृथ्वी पर अपनी चॉदनी बिखेरते देख रहे हो । यह उल्लास का भाव उस क्षण भी आ सकता है जब हम तीव्र गति से दौडने वाली ट्रेन मे डिब्बे के दरवाजे के सामने खडे हो, जब सामने के खेत और वृक्ष पीछे दौडते चले जा रहे हो और हमे अपना सारा जीवन अत्यन्त क्षुद्र महत्त्वहीन और क्षणिक जैसा लगता है । यह क्षण उस समय भी आ सकता है जब मन्द-मन्द पवन बहती हो जो धीरे-धीर कोमलतापूवक हमारे चेहर को छूती हो और वायु की उम सगीत-लहरी के साथ फूल-पत्तियॉ आनन्द से थिरक रही हो । अथवा यह उल्लास उस क्षण आ सकता है जब हम किसी मन्दिर या गिरजाघर के घण्टे की ध्वनि सुन रहे हो या हम किसी मूर्ति के समक्ष खडे हो । अभिमानी निमाई पण्डित जब एक मन्दिर की प्रतिमा की ओर देख रहा था तभी वह क्षण आया और अचानक ही वह नम्र, श्रद्धालु चैतन्य महाप्रभु भक्त के रूप मे परिवर्तित हो गया । प्रसन्नता की यह घटना नाना रूपो मे घट सकती है, पर एक ही वातावरण मे, एक ही परिस्थिति मे सदैव एक-सा ही अनुभव नही आएगा । इस हर्ष की पुनरावृत्ति नही की जा सकती । यह किसी कामना या खोज की परिसमाप्ति नही है । क्षण-भर पहले भी हम नही जानते कि अगले क्षण क्या होने वाला है । मन के समक्ष जब ऐसी सर्वथा नई और अपेक्षित स्थिति आ खडी होती है तो वह पूर्णत शान्त और स्थिर हो जाता है । अगले ही क्षण एक विस्फोट होता है, हमारे अह की धज्जियॉ-धज्जियॉ उड जाती है और यह होता है—सृजनात्मक आनन्द ।

सृजनात्मक हर्ष सहज, स्फूर्त घटना होती है । वह निश्चय ही हमारे समक्ष आती है । हम उसका पीछा नही कर सकते । यह प्रसन्नता उन अनपेक्षित क्षणो मे आती है जब मानस शान्त रहता है और वह सभी अपेक्षाओ से सर्वथा मुक्त रहता है । हर्ष का जीवन स्वत सहज जीवन हो सकता है परन्तु सघर्ष-प्रयत्नशील जीवन दु ख का जीवन होता है । सुख के पीछे दौडा जा सकता है और उसकी अन्तहीन दौड ऊब, थकावट, क्षय और दु ख ही लाती है । परन्तु हर्ष या प्रसन्नता के पीछे दौडा नही जा सकता उसको खेती की तरह जोता-बोया नही जा सकता । वह तो अनायास घटना होती है । किसी विचार और स्मृति के माध्यम से जब किसी हर्ष की

अनुभूति होती है तो उसी के बीज-कोष के चारो ओर प्रत्येक सुख की रचना होती है। अत इस सुख को कोई नष्ट करना चाहे तो प्रसन्नता के उस बीज-कोष को नष्ट किए बिना ऐसा नही हो सकता। अनेक तपस्वियो ने भोग-विलास को नियत्रित करने अथवा नष्ट करने की चेष्टा की है परन्तु वे उसमे सफल नही हो सके। उन्होने हृदय की शुष्कता का और अह का एक नकारात्मक सुख तो खडा किया है। वैराग्य के द्वारा हम सकारात्मक सुख को नष्ट कर सकते है परन्तु उसके साथ-साथ हम अपने जीवन मे कभी समूची प्रसन्नता के आ सकने की सम्भावना को भी नष्ट कर डालते है। सुख या विलास की प्रकृति और उसकी सीमाओ को यदि हम ठीक ढग से समझ ले तो भोग-विलास की, सुख की हमारी खोज का अन्त हो सकता है जो कि हमारे मानस को शान्ति की स्थिति मे लाकर छोड देगी। इस प्रकार की स्थिति मे ही प्रसन्नता का पुष्प खिलता है। यह हर्ष ही वह वस्तु है जो हमारे मानस का परिवर्तन कर सकता है। यह हर्ष ही दैवी कृपा (Divine grace) है, यदि हम उस शब्द का प्रयोग करना पसन्द करे तो। यह आवश्यक नही कि हर्ष की यह कृपा निश्चित रूप से ईमानदार, न्यायनिष्ठ लोगो पर भी बरसे। वह ऐसे लोगो पर भी बरस सकती है, उनके जीवन को स्पर्श कर सकती है जो तथाकथित अथवा नीच माने जाते है। सीधे-सादे और नम्र लोगो के जीवन मे हर्ष अपनी सारी कलाओ के साथ प्रस्फुटित होता है। उसके आगमन के लिए कोई पूर्व शर्ते नही है। हॉ उसके खिलने के लिए एक शर्त है। वह शर्त है—सच्ची नम्रता। ईमानदार, न्यायनिष्ठ होने का, तपस्यामय नैतिक जीवन का, पुस्तक के ज्ञान का अथवा शास्त्रो के ज्ञान का अहकार इसके मार्ग की सबसे बडी बाधा है।

हम जब दु ख का सामना करते है, उसे समझते है, उसका रूप-परिवर्तन करते है, तब हम यह समझ सकते है कि प्रेम क्या है। प्रेम के खिलने का अर्थ है—दु ख की समाप्ति और जीवन के अर्थ और महत्त्व की खोज की समाप्ति। दु ख की जागरूकता से प्रेम का आरम्भ होता है और प्रेम के आरम्भ से सब प्रश्नो की समाप्ति होती है। प्रेम की स्थिति मे मन जब पहुँचता है तो वह कोई प्रश्न नही पूछता। दु ख को समझ लेना ही ध्यान, साधना है और प्रेम का पुष्पित-पल्लवित होना ही ध्यान की साधना की परिसमाप्ति है।





विभिन्न लोगो ने विभिन्न कालो मे विभिन्न प्रकार से मुक्ति को समझा है और अपने-अपने ढग पर उसकी व्याख्या की है। एक युग मे—कम से कम पूर्व मे—तो ऐसा था ही कि मुक्ति का अर्थ माना जाता था जन्म-मरण के चक्र से ऊपर चल जाना। कारण, उस समय लोगो का ऐसा अनुमान था कि मानव-जीवन के सारे दु खो और कष्टो का आरम्भ मनुष्य के जन्म के साथ होता है। परन्तु यदि हम गहराई से इस प्रश्न पर और इसके गूढार्थो पर विचार करे तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि इस दु ख का अधिकाश कल्पना और चिन्तन का ही परिणाम है। जन्म के समय हमे कोई गम्भीर दर्द या कष्ट नही होता। गर्भावास के नौ महीनो मे भी हमे कोई भयकर कष्ट नही झेलना पडता, भले ही प्रौढ व्यक्तियो की कल्पना मे यह भाव रहता हो कि वहाँ बहुत कष्ट भोगना होता है। उसी प्रकार मृत्यु का हमारा भय भी कल्पना या चिन्तन का परिणाम है। मत्यु के समय मरणोन्मुख व्यक्ति को उसकी जानकारी मे शायद ही कभी घोर कष्ट की अनुभूति होती हो। यदि कोई मनुष्य सारा जीवन शाति और समरसता से बिताए, उसके जीवन मे सघर्ष और कष्ट न रहे, तो बार-बार जन्म लेने को उसे कोई चिन्ता न होगी। ऐसे व्यक्ति के लिए पुनजन्म अनन्त प्रसन्नता का विषय हो सकता है—मृत्यु उसके लिए कोई

भयदायक वस्त न रहेगी और उसकी चतना मे 'दु ख' या 'कष्ट शब्द अपरिचित जैसा ही रहेगा ।

परन्तु जन्म-मृत्यु के चक्र से परे जाकर निर्वाण या मोक्ष की तलाश करने का, जीवन की विपुल समस्याओ के प्रति ऐसा रुख रखने का अर्थ ऐसा स्थिति मे चल जाना है जिस दैनिक जीवन के अस्तित्व की सीमा से परे जाकर कम-से-कम आशिक रूप म पलायन या परावर्तन ही कहा जाएगा । इस प्रकार की विचार-पद्धति का स्वाभाविक परिणाम होता है—सासारिक जीवन का त्याग । अत कुछ धार्मिक पन्थो के लिए मोक्ष या निर्वाण के लिए वह अनिवार्य बन गया (Sine Oua Non) । इस मार्ग पर चलकर शायद कुछ लोगो को अपनी व्यक्तिगत समस्याओ का कुछ समाधान मिल गया हो, पर मानव जाति के बडे समूह के लिए ऐसा त्याग असम्भव ही रहा है । यह मार्ग समग्र रूप से दैनन्दिन जीवन की चुनौतियो का सामना नही कर सकता था । समग्र मानवीय समस्या जो व्यक्तिगत समस्या क विपरीत पडती है—बिना सुलझे हुए ही रह गई ।

तब प्रश्न यह उठता है कि मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है क्या ? मुक्ति को सदा से आवश्यकता के साथ जोडकर रखा गया है । कोई भी व्यक्ति अपनी लालसाओ, इच्छाओ और भावनाओ को, अपने विचारो को मुक्त रूप से व्यक्त करना पसन्द करे तो इसके लिए उसे सामाजिक पर्यावरण से सघर्ष करना पड सकता है । ऐसा यदि न भी हो, मनुष्य के विचार सामाजिक नियमो या सदाचारो के अनुकूल भी हो, तो भी ऐसा सम्भव है कि उसे अपने आप से ही सघर्ष करना पडे । कोई भी सामाजिक सदाचार अबाध्य, अलघ्य या परम पवित्र नही है । वह व्यक्तियो, व्यक्ति-समूहो की चुनौतियो के चलते परिवर्तित हो सकता है । बदल सकता है । किसी भी व्यक्ति को यह खोजना पडेगा कि अपने सामाजिक सगठन के भीतर रहते हुए वह अपनी मत-भिन्नता मे, दूसरे लोगो की प्रतिक्रियाएँ बिना बुलाए हुए किस सीमा तक जा सकता है । उसे यह भी देखना होगा कि क्या स्वतत्र जीवन बिताने के लिए उसकी यह मत-भिन्नता वस्तुत आवश्यक है ? सामाजिक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध मनुष्य जो सामान्य व्यक्तिगत विद्रोह करता है, वह एक प्रतिक्रिया है और वह प्रतिक्रिया मनुष्य को मुक्ति नही दिलाती । कारण कि प्रतिक्रिया के बदले मे दूसरी प्रतिक्रिया ही आती है और इस प्रकार प्रतिक्रियाओ की अन्तहीन शृखला चालू हो जाती है । मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्र मे प्रतिक्रिया अपनो विरोधी प्रतिक्रिया

के साथ निकट रूप से जुडी रहती है । इतिहास मे हम देखते है कि हिसा का प्राय हिसा द्वारा विरोध किया गया है, पर हिंसा हिमा के मिटा नही सकी । अहिसा भी तो हिमा को मिटा नही सकी । युद्ध समाप्त करने के लिए, युद्ध का अन्त करने के लिए हजारो युद्ध लडे गए है, परन्तु युद्ध समाप्त नही हो सका । शान्ति-वाद (Pacifish) युद्ध रोकन का उपाय बताया गया । इस बात का बडा प्रचार किया गया परन्तु मनुष्य जब तक अपनी आन्तरिक प्रकृति मे लोभ, हिसा और प्रतिद्वद्विता को निकाल बाहर न करे तब तक ऐसी बातो से कोई विशेष लाभ नही है । युद्ध और सामाजिक सघर्ष के बीज मानव के मानस के भीतर ही बोए जाते है । जब तक मानवीय प्रकृति को ही मौलिक रूप से परिवर्तित न कर दिया जाए, नब तक ऊपरी उपदेशो, उपचारो और पद्धतियो द्वारा सघर्ष का अन्त नही होगा ।

अत हमे किसी रूढि, परम्परा या सिद्धान्त के रूप मे नही, प्रत्युत अपने अनुभव और अपनी बुद्धि द्वारा—जिसे हम ध्यान (Meditation) कह सकते है—इस बात को समझना चाहिए कि प्रतिक्रिया मुक्ति से, स्वतत्रता से बहुत दूर की चीज है । प्रतिक्रिया तो सतही मन की बहुत ही छिछली अनुक्रिया है ।

सघर्ष का आरम्भ व्यक्तिगत मानवीय मानस के भीतर होता है और जब तक उस आन्तरिक सघर्ष को मिटाया नही जाता, तब तक सघर्षशील व्यक्तियो द्वारा निर्मित कोई भी समाज सघर्ष और विशृखलता से कभी मुक्त नही हो सकता । अन्तत कोई भी व्यक्ति समग्र मानवीय चेतना से पृथक् नही हो सकता और जब वह अपने भीतर कोई परिवर्तन लाता है तो वह समग्र मानवीय मानस को प्रभावित करता है । अत मुक्ति मे केवल बाहरी पर्यावरण नही आता । जो परिवर्तन के लिए अनुकूल हो उसके लिए आन्तरिक स्थिति भी ऐसी होनी चाहिए जो भय, चिन्ता और दु ख से शून्य हो ।

आन्तरिक सघर्ष-मुक्त यह स्थिति सम्पन्नता और भौतिक समृद्धि के द्वारा नही लाई जा सकती—उलटे ऐसी सम्पन्नता ने तो आन्तरिक सघर्ष को और अधिक वढावा दिया है । सघर्ष के बीज खोजने के लिए मनुष्य को अपने ही मानस की ओर मुडना होगा और उसके विभिन्न अशो का पता लगाना होगा । इस निरीक्षण द्वारा, जो कि ध्यान ही है, मनुष्य शायद अपने व्यक्तित्व मे समन्वय या योग ला सकता है । इस प्रक्रिया के द्वारा किसी दूर भविष्य मे अथवा मृत्यु क उपरान्त मुक्ति पाने के बजाय वह पर्यावरण की कडियाँ तोडकर अभी ही, तत्काल ही अपनी मुक्ति

प्राप्त कर सकता है । मृत्यु के उपरान्त मुक्ति की अवधारणा का कोई विशेष अर्थ या महत्त्व नही है ।

मुक्ति केवल इसी बात मे नही है कि हम चाहे जो कुछ करने के लिए स्वतत्र है । अशान्त और उत्तेजित मन के द्वारा हम प्रतिक्रियाओ की शृखला मे चाहे जो कुछ कर सकते है फिर भी वह मुक्ति या स्वतत्रता नही है, बल्कि वह मुक्ति का निषध है । हम यदि अपने कायकलापो के उद्गम को खोजते चले तो हम सहज ही यह दखेगे कि हमारा अचेतन मानस किस प्रकार छिपी हुई भावनाओ और अभिप्रेरणाओ के सयोजन द्वारा और हमारी आदतो को मोडकर हमे सहज कार्य को नही करने देता जो मुक्ति या स्वतत्रता से उत्पन्न होता है और जो पुन हमे मुक्ति की ओर ल जाता है । अत मुक्ति किसी बाहरी वस्तु से नही पानी है । मुक्ति तो एक एसी स्थिति है—जो पुरानी परिबद्धता और अचेतन अभिप्रेरणाओ और उद्देश्यो से सवथा मुक्त है । ऐसी स्थिति उस प्रकार की शान्त और ध्यानावस्थित मानस से ही आ सकती है जो शक्ति, प्रेम और करुणा से ओतप्रोत हो ।

सम्पूर्ण कार्य न तो केवल बुद्धि या तर्क से होता है, न किसो प्रेरणा या अन्त - प्रेरणा से होता है—वह आखिरकार अहप्रेरित ही हो सकता है । ऐसा कार्य सर्वोच्च बुद्धि और एकीकरण के द्वारा ही हो सकता है जो कि शान्त ध्यानावस्थित मानस का आधारस्थल है ।

ऐसा मानस प्रचलित धर्म-विरोधी होता है क्योकि वह स्वय अपना स्वामी होता है । वह अन्य किसी सूत्र पर, किसी व्यक्ति अथवा ग्रन्थ पर अपने मार्गदर्शन के लिए निर्भर नही रहता—वह अपने पुराने निजी अनुभव पर भी निर्भर नही रहता, केवल इतना ध्यान रखता है कि भूतकाल मे उससे कोई गलती हुई हो तो उसे फिर दोहराए नही । वह किसी विचारधारा, किसी पद्धति या किसी तत्त्वज्ञान के अनुसार नही चलता । ऐसा मानस स्वय निरीक्षण करता है और समझता है । उसी निरीक्षण और ज्ञान के द्वारा ही कर्म होता है जिससे न तो सघर्ष पैदा होता है न दु ख । कारण, उसका जन्म होता है अन्तर्दृष्टि से और प्रज्ञा से ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

—पातजल योग सूत्र 1 48

उस स्थिति मे प्रज्ञा सशय और सदेह से मुक्त रहती है ।



चीन के प्राचीन सत लाओत्से से लेकर अत्यन्त आधुनिक विचारको मे से अनेक लोगो ने स्वय-स्फूर्ति या सहजता (Spontaneity) के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किए है । इस बात मे कोई सन्देह नही कि सहजता के बिना किसी प्रकार की मुक्ति नही मिल सकती । परन्तु 'सहजता' शब्द ही सहजता नही है । इस शब्द के पूरे तात्पर्य को समझे बिना सहजता के स्थान पर ऊपरी अथवा यान्त्रिक प्रतिक्रियाओ को धोखे से सहजता माना जा सकता है ।

स्पष्ट है कि कोई भी कार्य यदि किसी विचार से प्रेरित होकर किया जाता है तो वह स्वय-स्फूर्त या सहज नही है । बुद्धि के शान्त रहने पर भी यदि किसी भावना, रुझान, प्रवृत्ति या आदत के कारण किए गए किसी कार्य को स्वत -स्फूर्त कहा जा सकता है ? पर क्या कोई कार्य पाशविक मूल प्रवृत्तियो या प्रेरणाओ से स्वत -स्फूत हो सकता है ? किसी कुत्ते के लिए जो कार्य स्वत -स्फूर्त हो, क्या वह किसी मनुष्य के लिए भी स्वत -स्फूर्त कहा जा सकता है ? दूसरे कुत्तो को देखकर भौकना और उनका पीछा करना किसी कुत्ते के लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है—परन्तु यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यो के प्रति इस प्रकार का कोई व्यवहार करे तो क्या उसे स्वाभाविक अथवा स्वत -स्फूर्त कहा जा सकता है ?

मनुष्य ने अपनी विकास-यात्रा मे अपने पशु पूर्वजो से अनेक नैतिकताशून्य प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ उत्तराधिकार म प्राप्त की है । क्या पशु जगत् का अन्धानुकरण मनुष्य के लिए सम्भव है ? क्या वह बिना किसी मानसिक सघर्ष के नैसर्गिक रूप म कोइ काय कर सकता है ? जब कभी कोई मनुष्य पशु जैसा आचरण करता है तो क्या वह वास्तव मे किसी न्यायसगत या तर्कसगत व्यवहार के तिरस्कार के बिना ऐसा कर सकता है ? जब वह किसी पशु की भाँति कोई आचरण करता है अथवा करने की चेष्टा करता है तब भी क्या वह सदैव अपनी बुद्धि का उपयोग नही करता ? स्वत -स्फूर्ति तक जाने के लिए मनुष्य को केवल चेतन विचार से ही परे नही जाना चाहिए अपितु उसे स्मृति और अन्ध प्रेरणा के रूप मे अचेतन मे दबे हुए उस विचार से भी परे जाना चाहिए ।

इच्छा-शक्ति, एकाग्रता अथवा बहिष्कार के किसी साधन द्वारा विचार को जबरन निकाल फेकने से मनुष्य सहजता की स्थिति मे नही पहुँच पाएगा । ऐसा करके वह केवल ऐसी स्थिति म पहुँचगा जिसमे सवेदनशीलता घटेगी या विरोध की भावना पैदा होगी । मानस के कुछ भागो को दबा देने वाली किसी पद्धति के निरन्तर अभ्यास से जाग्रत् सघर्ष को मिटाकर अत्यन्त शक्तिशाली स्थिति लाई जा सकती है । तब सम्भवत कुछ सामान्य रूप से कठिन कार्य अपने-आप अथवा यत्रवत् काय हो सकते है । किन्तु ऐसे स्वत -चालित या यत्रवत् कार्य सच्चे अर्थो मे स्वत -स्फूर्त नहा हो सकत । स्वय गतिशीलता स्वत -स्फूर्ति या स्वाभाविकता नही है । इसलिए सहजता या स्वाभाविकता की खोज के लिए यह आवश्यक है कि निरीक्षण और ज्ञान द्वारा चेतन और अचेतन सभी विचार समाप्त हो जाएँ । उनकी यह समाप्ति किसी बाहरी अनुशासन के फलस्वरूप न हो । केवल विचार की समाप्ति द्वारा ही मनुष्य सहजता के आमने-सामने पहुँच सकता है ।

शात ध्यानावस्थित मानस द्वारा ही सहजता प्रकट होती है । सहजता रचनात्मक होती है । सृजनशील सहजता को कार्य करने देने के लिए बुद्धि को अपना सारा सृजन और प्रक्षेपण बन्द कर देना चाहिए । इसका अर्थ यह भी है कि सहजता का अनुशीलन नही किया जा सकता । कारण, सहजता का अनुशीलन तो एक बौद्धिक प्रक्रिया है । कलाकारो और कवियो को इस सृजनात्मक स्थिति की कभी-कभी झाँकी मिलती है, परन्तु जब वे उसे पुन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते है, तो वे इस स्थिति को खो बैठते है । मानव-प्राणियो के लिए सहजता प्राप्त करना सरल है पर

इस स्थिति मे देर तक बने रहना कठिन है । उसके लिए कडे अनुशासन की आवश्यकता है और उस अनुशासन का एक अग यह है कि सृजनात्मक स्थिति का अनुशीलन न किया जाए ।

किसी कवि या कलाकार का सवेदनशील मानस वह दर्पण है जिसमे इस सृजनात्मक शक्ति का प्रतिबिम्ब पड सकता है । जो व्यक्ति लिखता है, रचना करता हैं अथवा चित्राकन करता है यह आवश्यक नही है कि वह कवि या कलाकार हो ही । वस्तुत कवि या कलाकार तो केवल वह है जो सवेदनशील हो । सहजता की स्वय-स्फूर्ति की इस स्थिति मे स्थिर रहने के लिए सरल और सवेदनशील मानस का होना आवश्यक है । औषधि, जडी-बूटी (Drugs) आदि से यह सवेदनशीलता नष्ट हो जाती है । औषधियाँ हलकी भी हो सकती है, तेज भी । अथवा वे अहकार, महत्त्वाकाक्षा अथवा लालच जैसी शक्तिशाली दवाएँ हो सकती है । अहकारी, महत्त्वाकाक्षी अथवा लालची मानस हिसात्मक और विकृत होता हे । ऐसा मानस शात, स्थिर नही हो सकता । शाति के बिना सहजता नही आ सकती ।

सामान्य मनुष्य के मानस मे कार्य और विचार के बीच सघर्ष होता रहता है । कुछ लोगो ने किसी एक या दूसरी पद्धति के द्वारा विचार को दबाकर इस सघर्ष को निर्मूल करने का प्रयत्न किया है । ऐसी परिस्थितियो मे पुनर्जनन को रोकने वाली प्रकृति को बिना किसी बाधा के खेल खेलने का मौका मिल जाता है । सघर्ष तो जाता रहता है, पर असतुलन बना रहता है । परन्तु जब बडी चौकसी और समझदारी केफलस्वरूप'बुद्धि शात हो जाती है तो मानस मे एक रूपान्तरण होता हे । मूल मानवीय प्रकृति बदल जाती है । यह परिवर्तन गहरा और पैना, अन्तर्बेधी होता है । यह ऊपर से नीचे की ओर अथवा भीतर से बाहर होता है । सबसे पहले बौद्धिक परिबद्धता मिट जाती है, बुद्धि जगमगा उठती है । तब वह सहज नैसर्गिक व्यवहार को तर्कसगत बनाने के लिए बेचैन, अव्यवस्थित, आत्मकेन्द्रित यत्र मात्र नही रह जाती । वह स्वच्छ स्पष्ट, भ्रमरहित साधन बन जाती है और तब वह सामजस्य करने वाली प्रज्ञा के उच्चतर प्रकाश मे तर्कसगत रीति से, सद्बुद्धि से विचार करने लगती है । रूपातरण की यह शक्ति जब गूढ पाशविक वासनाओ का स्पर्श करती है तो उनका भी रूपानरण हो जाता है और तब एक नए मानव का जन्म होता है ।

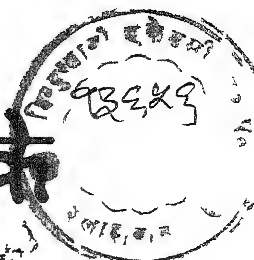
अनेक व्यक्तियो को कुछ दुर्लभ क्षणो मे सहजता की उपलब्धि हुई हैं, परन्तु

सहजता मे सतत मग्न रहन वाले व्यक्ति तो अत्यन्त विरल है । सहजता मे निवास करना उसकी महान् शक्ति और सौदर्य को जग्न लेना है । अन्य सभी शक्तियाँ सघर्ष और टक्कर पर आधृत है और इसलिए वे विकृत है । पर यह एक महान् शक्ति है जो शक्ति के साथ सुन्दर भी है । सहजता की खोज करने के लिए और सहज जीवन जीने के लिए मनुष्य को हाथो द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा रचित सारी सम्पत्तियो—सासारिक समृद्धि अथवा बौद्धिक ज्ञान की सम्पत्तियो या मनोबल की सम्पत्ति से अपना मुँह मोड लेना चाहिए । तब मनुष्य पूर्णन शून्य बन जाता है । उसमे नम्रता भर जाती है और तब वह उस स्थिति मे होता है, जिसमे सहजता आ सकती है और सच्ची सृजनशीलता आरम्भ हो सकती है—इस सृजन को काल का स्पर्श नही होता, अत यह क्षय और मृत्यु से मुक्त रहता है ।

सहजता की स्थिति मे पहुँचने के लिए मनुष्य को आत्मसमर्पण की महान् कला सीखनी होगी और क्षण-क्षण का जीवन जीना होगा । उसे बोद्धिक प्रयत्न तथा इच्छाशक्ति के जागरण का अभ्यास छोड देना होगा, जिससे वह केवल माक्षी रूप मे, उपद्रष्टा के रूप मे रह सके । ऐसी स्थिति मे वह सर्वोच्च शक्ति हमारी सारी चिन्ताओ का भार अपने माथ ओढ लेती है और हमारे जीवन मे बिना बुलाए ही चमत्कार घटित होने लगते है । इस सर्वोच्च सृजनात्मक स्थिति को कोई किसी भी नाम से पुकार सकता है । उसे चाहे ईश्वर कहिए, चाहे सुन्दरम् अथवा सत्य कहिए, पर वस्तुत सच्ची सहजता से बढकर ससार मे कोई भी शक्ति नही है ।

सारी खोज जहाँ समाप्त हो जाती है वही से सहजता का आरम्भ होता है । सहजता की स्थिति मे मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है और वैसा करते हुए न तो कोई सघर्ष होगा और न कोई भूल होगी । सहजता ही प्रेम है । जब किसी मनुष्य के हृदय मे प्रेम होता है तब वह कोई गलत काम नही कर सकता । सहजता को खोजने के लिए मनुष्य को सामाजिक अथवा परम्परागत नैतिक मानदण्ड से ऊपर उठना होगा । सहज होने का अर्थ है—सद्गुणी होना । सद्गुण वही है जो किसी आचारसहिता अथवा किसी कारण के बिना स्वत ही पुष्पित-पल्लवित होता है ।





औषधि और यौन के अनुभव



मानव-चेतना का इतना विस्तार किया जाए कि उसके द्वारा सत्य अथवा वास्तविकता का साक्षात्कार हो जाए । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से औषधि और यौन-अनुभव का व्यापक पैमाने पर उपयोग होता आ रहा है । औषधियो के उपयोग से जिस उत्तेजना या उद्दीपन का अनुभव होता है, वह झूठा या कृत्रिम होता है, क्योकि वह एक ऐसो छुटकारे की भावना का परिणाम है जो उच्चतर मस्तिष्क सम्बन्धी केन्द्रो के अवसाद पर निर्भर करता है । उसी प्रकार से एकाग्रता और तथाकथित ध्यान (Meditation) की पद्धतियॉ भी मस्तिष्क सम्बन्धी झिल्ली (Cerebral Cortex) के आशिक अवरोध तथा अवसाद पर और दिमाग के अन्तर्बाह्य चुने हुए कुछ केन्द्रो (Sub-cortical Centres) की विमुक्ति पर निर्भर करतो है । विभिन्न योगिक परम्पराओ की कठिन और दीर्घकालीन साधनाओ के द्वारा जो अन्त शक्ति प्राप्त की जा सकती है, वह औषधियो के सहयोग से उपयुक्त गुरु और लगनशील साधक द्वारा उसकी अपेक्षा कही कम समय मे प्राप्त की जा सकती है । जो हो, औषधियो से मिलने वाली सुविधाओ की अपेक्षा उनके कारण होने वाले दुष्परिणाम कही अधिक हानिकारक हो सकते है ।

ध्यान की आधुनिक पद्धतियो के पुरस्कर्ता कडे शब्दो मे औषधियो की भर्त्सना

करते हैं परन्तु इस बात के उदाहरण प्रस्तुत हैं कि भारत की मध्यकालीन तान्त्रिक साधना मे मद्य भॉग और चरस का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था और योग के प्राचीन सर्वोच्च अधिकारी पतजलि ने अपने योगसूत्र मे अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे कहा है

जन्मोषधि मत्र तप समाधिजा सिद्धय

—पतजलि 4/1

"सिद्धियॉ जन्म, ओषधि अथवा मत्र, तप और समाधि द्वारा प्राप्त हो सकती ह ।"

आधुनिक साहित्य मे एल्डुअस हक्सले ने औषधि और यौन-भाव के प्रश्न पर योगी अथवा रहस्यवादी का सवथा विलक्षण दृष्टि से विचार किया है । उन्होने अपने आइलैण्ड' उपन्यास मे इस प्रसग पर विस्तार से और 'डोर्स ऑफ परसेप्शन' और 'बेव न्यू वर्ल्ड मे अपेक्षाकृत कम मात्रा मे प्रकाश डाला है । उनके कई उपन्यासा मे इस प्रकार के प्रसगो की थोडी-बहुत चर्चा मिलतो है । आधुनिक भारतीय साहित्य मे प्रसिद्ध तान्त्रिक विद्वान् कविराज गोपीनाथ ने ऐसे विषयो पर अधिकारपूर्ण ढग से लिखा है ।[1]

पूर्व और पश्चिम, दोनो की अनेक यौगिक सस्कृति और रहस्यवाद की प्राचीन परम्पराओ पर इस बात मे बडा बल दिया गया है कि यौन-शक्ति पर नियत्रण करके सिद्धियॉ प्राप्त की जा सकती है । यह बल सम्भवत इसलिए दिया गया होगा कि - मनुष्य जिन आकर्षणो की ओर दौडता है उनमे शायद यौन-आकर्षण सबसे अधिक दुर्धर्ष और दुर्जेय है । उसका कारण यह है कि सम्पूर्ण आत्म परित्याग और आत्मसात के साधन का उसका अपना विशेष पद है । यौन-भावना का एक अन्य पहलू यह है कि उसमे प्रजनन शक्ति रहती है और इस कारण यह माना गया है कि यौन-कार्य मे प्रवृत्त होना केवल पाप ही नही है, अपितु उसमे शक्ति का भारी क्षरण भी है । यो यदि सम्भोग-कार्य सघर्षशून्य हो तो वह किसी भी शारीरिक क्रिया से अधिक शक्ति का क्षरण करने वाला नहीं है । वस्तुस्थिति यह है कि इस कार्य के चारो ओर सघर्ष और ग्लानि की जो भावना जुड गई है, उसके कारण शक्ति का भारी क्षय होता है ।

1 भारतीय सस्कृति और साधना

मध्यकालीन तपस्वियो मे यौन-भाव की भर्त्सना सामान्य बात थी ही, पर वर्तमान युग मे भी महान् विचारक और योगी श्रीअरविन्द भी इस विचारधारा से मुक्त नही रह सके। उन्होने तो यौन-अनुभूति की यहाँ तक भर्त्सना की कि पराई अथवा अपनी पत्नी के साथ सभोग मे कोई अन्तर नहीं माना। उन्होने अपने सभी साधको को यौन-अनुभूति से दूर रहने के लिए कहा, यद्यपि वे आत्मानुभूति की एक ऐसी स्थिति का भी वर्णन करते है, जिसमे सम्भोग का कोई बुरा प्रभाव नही पडता। परन्तु यह बात आसानी से समझ मे नही आ सकती कि कोई साधक जो इस प्रकार यौन-भाव के प्रति प्रतिबद्ध हो चुका है, वह आत्मानुभूति के बाद किसी दिन अकस्मात् किसी मानसिक सघर्ष के बिना कैसे यौन-सुख का आनन्द ले सकेगा ?

इन सारे गूढार्थो को समझते हुए वाममार्गी तात्रिको ने यौन-प्रतीको और वास्तविक सम्भोग-प्रक्रिया को इन प्रतिबद्धित प्रभावो से ऊपर उठ जाने दिया, ताकि उनकी साधना आरम्भ से ही अनेक आन्तरिक सघर्षो से मुक्त रहे। शायद तात्रिक साधना मे सघर्ष, आत्मपीडन और दमन कम रहा, क्योकि उसने साधना की चेतन और अचेतन उत्तेजनाओ का सदैव ध्यान रखा और तद्नुकूल ही अपना मार्ग या अनुशासन निश्चित किया। साधना के आरम्भ मे ही स्वतत्रता की आवश्यकता समझ ली, उसके लिए अन्त तक प्रतीक्षा नहीं की।

आज पश्चिम मे युवावर्ग नियत्रित और पूर्ण मार्गदर्शन के बिना औषधि और यौन-अनुभव की अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। तात्रिको की तुलना मे शायद ये लोग किसी अवरोध के बीच अपना काम चला रहे है। तात्रिको की पद्धति और प्रक्रिया भली भॉति विकसित थी और उसका एक परिपूर्ण दर्शन था। इन युवा लोगो मे बहुतो के विषय मे ऐसा खतरा है कि ये ऐसे प्रयोगो द्वारा मार्गभ्रष्ट हो जाएँगे और उसके कारण ये मस्तिष्क सम्बन्धी उत्तेजना की चोट के अधिक शिकार बनेगे। इन सब बाधाओ के बावजूद इनमे से अनेक व्यक्ति औषधियो से ऊपर उठकर सच्ची आध्यात्मिक यात्रा की ओर जाने मे सफल हुए है।

प्रश्न है कि इन अनुभूतियो का अथवा ऐसी ही किन्हीं अन्य अनुभूतियो का मूल्य क्या है ? मैस्कलीन (Mescaline)[1] एल०एस०डी० या हशीश-भॉग जैसी औषधियॉ मस्तिष्क के कुछ उच्चतर केन्द्रो को निरुद्ध कर देती है और मध्य-

1 नशे के लिए चूसा जाने वाला एक पौधे का बीज या रस

मस्तिष्क के कुछ केन्द्रो को उत्तेजित कर देती है । इस प्रकार वे प्रयोक्ता के समक्ष अवचेतन का रहस्य प्रकट कर सकती है अथवा पुरातन मूल्यो के स्थान पर नवीन मूल्यो को प्रस्थापित कर सकती है । परन्तु प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति लगातार औषधियो के ही प्रभाव मे न रहकर मस्तिष्क की सामान्य और गम्भीर स्थिति मे रहते हुए किस प्रकार इन नवीन मूल्यो को ग्रहण कर सकता है । यदि कोई व्यक्ति अपने अचेतन मे अन्तर्दृष्टि के द्वारा इन वैकल्पिक मूल्यो को खोजकर उन्हे स्वीकार कर ले और औषधियो का पुन प्रयोग किए बिना उन्हे अपने जीवन का अग बना ले तो शायद बहुत बडी उपलब्धि हो सकेगी । परन्तु होता यह है कि और अधिक अनुभूति प्राप्त करने के लिए तथा उन अनुभूतियो को स्थिर बनाए रखने के लिए लोग औषधियो पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगते है—उससे आध्यात्मिक जागरण और अन्तर्दृष्टि पाना तो दूर रहा, औषधियो के नशे का व्यसन लग जाता है । औषधियो पर आश्रित सत्य या आनन्द अथवा वास्तविकता केवल रासायनिक भ्रममात्र है । वह उस मुक्ति से सर्वथा भिन्न है जो एकाग्र निरीक्षण और अन्तर्बाह्य जीवन के ज्ञान के कारण सहज भाव से प्राप्त होती है ।

उसी प्रकार किन्ही विशेष परिस्थितियो के भीतर सम्भोग द्वारा किसी मानवीय मस्तिष्क को स्वत -स्फूर्ति सृजनशीलता अथवा आनन्द की किसी निरहकारी स्थिति का साक्षात्कार हो सकता है—परन्तु उसमे खतरा यही है कि मस्तिष्क कही यह न सोच बैठे कि यह स्थिति एकमात्र सम्भोग-क्रिया से प्राप्त होती है । ऐसी सृजनात्मक अथवा आनन्दमय स्थिति सम्भोग के द्वारा उपलब्ध हो सकती है परन्तु प्रत्येक सम्भोग द्वारा ऐसी स्थिति नही आएगी । तब यदि हम इन्ही अनुभूतियो द्वारा उक्त स्थिति को प्राप्त करना चाहेगे तो इस बात की ही अधिक सम्भावनाएँ है कि हमारी सारी अनुभूति केवल उत्तेजना अथवा पुन -पुन उद्दीपन छोडकर और कुछ न होगी । और वह हमे सृजनात्मक मुक्ति की अनुभूति के स्थान पर वासनात्मक क्रियाओ मे ही ले जाकर गिरा देगी । यदि इस प्रकार के अनुभव द्वारा हम अहकार और अहकारजनित क्रियाओ की सर्वनाशी दुष्प्रवृत्ति समझ जाएँ और उसी के साथ-साथ हम यह भी सीख ले कि अहकार के निरसन से मुक्ति और सृजनशीलता प्राप्त होती है—यह आवश्यक नही है कि यौन-अनुभव द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो—तो हमने अहकार को और उसकी विनाशक क्रियाओ को समझ लेने की और उससे ऊपर उठने की सही बुनियाद डाल दी है ।

किसी भी अनुभूति का महत्त्व इस बात मे नही है कि उससे हम क्या मिलता है, प्रत्युत वह इस बात म है कि उसके द्वारा हमे किसी अनुभूति की सीमाओं को जानने का अवसर मिलता है और इस प्रकार हमारी और अधिक अनुभव प्राप्त करने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है । प्रत्येक व्यक्ति फिर चाहे वह वज्र मूख हो अथवा परम पण्डित, अत्यन्त दुनियादार हो अथवा अत्यन्त आध्यात्मिक, अपने अनुभव की ही बात करता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव को प्रमाण मानता है और यह प्रमाण ही श्रवण और निरीक्षण के मार्ग मे बाधक बनता है । अनुभव का आयोजन मानस को यन्त्रवत् और पत्थर जैसा बना देता है जिसमे सृजनात्मक [illegible] की सभी सम्भावनाएँ नष्ट हो जाती है । ऐसी स्थिति मे मनुष्य क्या करे ?

सर्वोच्च सत्य अनन्त एक निषधात्मक तत्त्व है । किसी अनुभूति के द्वारा उसका साक्षात्कार सम्भव नही । अनुभव के परे जाकर और अननुभूति की स्थिति पर पहुँचकर ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है । जब तक तटस्थ दृष्टि से अनुभूतियो का पुनर्मूल्याकन न किया जाए तब तक सभी साधनाओ और सयम-पद्धतियो मे मूलभूत खतरा यह रहता है कि सत्य और वास्तविकता का साक्षात्कार करने के बजाय मनुष्य इन्द्रिय-सवेदनाओ के चक्र मे पड सकता है ।

सर्वोच्च तात्रिक दर्शन के मूल्याकन मे भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोइ भी पद्धति या सिद्धान्त किसी विशिष्ट क्षण मे उपस्थित कुछ निश्चित तत्त्वो पर आधृत होता है और वह समग्र सत्य का समग्र जीवन का प्रतिबिम्ब नही हो सकता । इन पद्धतियो के अनुगमन से अनेक महत्त्वपूण परिणाम निकल सकते है, बडा सतोष मिल सकता है और बडा लाभ हो सकता है । अस्तु मूल प्रश्न यह है कि किसी भी पद्धति के अनुगमन से फिर वह चाहे जितनी विस्तृत और परिष्कृत क्यो न हो, क्या पद्धति द्वारा सत्य का साक्षात्कार होना सम्भव है ? सत्य केवल अनुभवातीत ही नही है, वह अन्तर्निहित भी है । वह स्थिर या निश्चित नही है, अपितु वर्धिष्णु, सतत गतिशील है, अपरिमेय है । क्या वह सर्वोच्च असीम शक्ति किसी पद्धति की सीमा के भीतर बँध सकती है, फिर वह पद्धति कितनी ही सुदृढ और प्रभावोत्पादक क्यो न हो ? क्या यह सम्भव है कि जीवन को किसी सूत्र अथवा पद्धति द्वारा समझा जा सकता है ? वह तो ज्यो-ज्यो प्रति क्षण आगे बढता और विकसित होता है, त्यो-त्यो अधिक जागरूकता, अधिक सावधानी और अधिक

सतर्कता से ही समझा जा सकना है ।

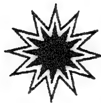
जीवन का किसी सूत्र से मेल नही बैठता । इसी मुख्य कारण के चलते ध्यान-साधना और आध्यात्मिक क्रियाकलापो की पुरानी पद्धतियाँ जीवन की नित नूतन समस्याओ का समाधान निकालने मे बुरी भाँति असफल हुई है और वे मानवीय मस्तिष्क मे कोई परिवर्तन नही ला सकीं । रूपान्तरण तो तभी होता है जब मानस सभी पद्धतियो और तत्त्वज्ञानो से ऊपर उठ जाता है, क्षण-क्षण जीवन का जो सत्य उद्भाषित होता है, उसके साथ वह एकाकार होता है और उस सत्य से उसका प्रत्यक्ष सम्पर्क आता है ।

यहाँ चेतावनी की एक बात कह देनी है । सर्वोच्च सत्य का प्राचीन हिन्दू-विद्या के शब्दो मे 'नेति, नेति' (यह नही, यह नहीं) इसी सूत्र के रूप मे वर्णन किया जा सकता है । परन्तु इस बात को समझ रखना चाहिए कि मानव-जीवन प्रकृत्या निषेधात्मक नहीं है । वह नकार और सकार की सीमारेखा पर स्थित है । वह भौतिक और आध्यात्मिक का मिलन बिंदु है । मनुष्य धरती पर स्थिर कदमो से चलता है और अपना सिर आकाश मे बनाए रखता है ।

इसके अतिरिक्त जब कोई व्यक्ति ध्यान मे गहरा उतरता है तो वह देखता है कि विभिन्न स्तरो पर सकार से नकार की ओर और नकार से सकार की ओर गति होती रहती है । सत्य सक्रिय है, गत्यात्मक है । वह सतत निर्बाध गति से नकार से सकार की ओर घूमता रहता है । मानवीय चेतना के स्तर पर मानवीय मानस सकार से नकार को, दु ख से सुख को और हर्ष से शोक को पृथक् करता रहता है । यही विभाजन, यही विखण्डन तो दु ख का कारण है । कर्म अथवा जन्म-मरण का चक्र दु ख का कारण नहीं है । जीवन का मृत्यु के साथ पृथक् होना ही दु ख का कारण है । स्वय जीवन या मृत्यु की घटना इस दु ख का कारण नहीं है । यही एकत्व, यही एकीकरण सच्चे ध्यान का अन्तिम लक्ष्य है । सकारात्मक अथवा नकारात्मक कोई काल्पनिक स्थिति प्राप्त करना उसका लक्ष्य नही है । विभिन्न पद्धतियो और उनके अनुगमन से किसी निष्कर्ष, लक्ष्य का सर्वोच्च निर्वाण या महाशून्य पर पहुँचा जा सकता है । उत्साहपूर्ण अभ्यास से ऐसे किसी स्थल पर स्थिर रहा जा सकता है, परन्तु यह अभ्यास सत्य का नकार है । यह तो मानवीय मस्तिष्क के सर्वोच्च बिन्दु पर प्रस्तरीकरण है । सत्य गतिशील है, गत्यात्मक है, जीवत है और केवल वही मस्तिष्क सत्य की गति के साथ चलता रह सकता है जो जीवत और

क्रियाशील है । पूर्णता न तो कोई मूर्ति प्रतीक है, न कोई विचार या भावना । वह हें सत्य की प्रत्येक सकारात्मक और नकारात्मक प्रतीक लहर के साथ सतत, निरन्तर घूमते चलना । यही है महामाया (सकारात्मक) का नटराज शिव (नकारात्मक), के साथ शाश्वत नृत्य । प्राचीन भारतीय ऋषियो ने शिवलिंग मे अत्यन्त पूर्ण प्रतीक स्थापित किया है । यह ऐस पिरामिड या त्रिकोण के रूप मे भी प्रदर्शित किया जा सकता है जिसका शिरोबिन्दु ऊपर की ओर हो । ऊपर पहुॅचकर दोनो ही एक बिन्दु पर मिल जाते हैं, जब कि नीचे दोनो मे पर्याप्त अन्तर रहता हैं । यह सकारात्मक और नकारात्मक की एकता का प्रतीक है । मनुष्य ज्यो-ज्यो ऊपर की ओर बढता हें त्यो-त्यो दोनो परस्पर-विरोधी तत्त्व आपस मे मिलने लगते है और एक समन्वय की स्थापना करत है । तात्रिक प्रतीक शास्त्र मे परम शिव की गोद मे विराजमान त्रिपुर-सुन्दरी द्वारा इसका बडा सुन्दर प्रतिनिधित्व किया गया है । अर्धनारीश्वर के रूप मे शिव भगवान् का सर्वोच्च प्रकटीकरण है, जिसमे आधा स्वरूप नर का हें और आधा स्वरूप नारी का ।

इस तत्त्व का अन्त -प्रेरणा से दर्शन करना एक बात है, परन्तु उसकी अनुभूति करना और वस्तुत उस स्तर का जीवन जीना सर्वथा दूसरी बात है । सच्चे ध्यान का सर्वोच्च लक्ष्य है इस आयाम को खोजना और इसी के अनुरूप जीवन जीना ।





जीवन अनुभूतियो की एक अखण्डित शृखला है । जीने का अर्थ ही है अनुभूति । अनुभव करना है । जीवन का एक भी क्षण ऐसा नही जिसमे कोई-न-कोई अनुभूति न होती हो । जीवन मे इतनी अधिक अनुभूतियाँ होती है कि मस्तिष्क उन सबको ग्रहण नही कर सकता । फिर भी मस्तिष्क सदैव इस दौड मे लगा रहता है कि उसे और अधिक अनुभूतियाँ प्राप्त हो, उसे और अधिक गहरी अनुभूतियाँ मिले और उसे तथाकथित आध्यात्मिक अनुभूतियाँ मिले । प्रश्न है कि यह खोज क्या नई अनुभूतियो के लिए है अथवा क्या यह खोज पहले की अपेक्षा अधिक तृप्तिदायक अनुभूतियो के लिए है ⁷ क्या कोई अनुभूति ऐसी भी होती है जिसे नई अनुभूति कहा जा सकता है ⁷ क्या कोई परिबद्ध मस्तिष्क से कोई नई अनुभूति प्राप्त कर सकता है ⁷

हमे सारे जीवन मे सतत असख्य स्थितियो और घटनाओ का सामना करना पडता है । प्रश्न उठता है कि क्या हम उनकी अनुभूति करते है अथवा हम केवल प्रतिक्रिया करते रहते है ⁷ प्रतिक्रिया की स्थिति मे क्या कोई मस्तिष्क अपनी ही प्रतिक्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति कर सकता है ⁷ शायद वह अपनी प्रतिक्रिया की भी पूरे तौर पर अनुभूति नही कर पाता । जिस क्षण यह प्रतिक्रिया तीव्र

और परेशान पैदा करने वाली हानि लाती है, मस्तिष्क उपेक्षा करता है अथवा बचाव के लिए बनाए गए चालाकी-भरे बहाने द्वारा उससे बचने की चेष्टा करता है। मस्तिष्क अनुभूति करने के स्थान पर बहानेबाजी के प्रयत्न में सदा लगा रहता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश मामलों में मन को इस बात का पता भी नहीं चलता कि वह बहानेबाजी कर रहा है। और इस प्रकार यह बहानेबाजी निरंतर चलती रहती है। इस बहानेबाजी को ही हम जीवन कहते हैं। इसी बहानेबाजी को हम अनुभूति कहते हैं।

पूरे तौर से कोई अनुभूति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मस्तिष्क पूर्णतः शान्त और शून्य हो। सच्ची अनुभूति तो केवल तभी हो सकती है जब मस्तिष्क सभी प्रकार की स्मृतियों और धारणाओं से शून्य रहता है। ऐसी स्थिति में अनुभव करने वाला अनुभूति में पूर्णतः डूब जाता है। तब विषय और विषयी व्यक्ति और उद्देश्य मिलकर एक हो जाते हैं। जब अनुभवकर्ता का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, तब क्या कोई स्मृति, कोई पहचान या कोई शिनाख्त बाकी रह जाती है? क्या कोई अनुभूति दूसरी अनुभूतियों से भिन्न होती है? क्या उसमें ऐसा कोई विभाजन होता है कि यह अनुभूति ऊँची है और यह नीच है? अथवा यह अनुभूति आध्यात्मिक है और यह अनुभूति अपवित्र या अधार्मिक है? क्या प्रत्येक अनुभूति एक ही नहीं होती? जब किसी दिलचस्प अनुभूति में अनुभवकर्ता समाप्त हो जाता है तो उसे अपने मस्तिष्क और शरीर में एक नई शक्तिदायक ताजगी महसूस होती है। तब उसकी व्याख्या शुरू होती है और तब अनुभवकर्ता प्रकट होता है और वह अपने-आपको इसका स्वामी बनाता है। यह व्याख्या पुरानी प्रतिबद्धताओं और पुरानी अनुभूतियों की भाषा के अनुसार होती है। नई अनुभूति पुरानी अनुभूति में डूब जाती है और उसकी समाप्ति हो जाती है। उसकी मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक अनुभूति में तीन स्तर होते हैं। पहला स्तर तो वह है जिसमें अनुभवकर्ता पूर्णतः अनुपस्थित रहता है। इस स्तर में स्मृति का कहीं कोई पता नहीं रहता। अतः इसे एक प्रकार की अननुभूति का स्तर कहा जा सकता है। यह तो एक नकारात्मक स्थिति है। दूसरा स्तर अनुभूति के बाद का स्तर होता है। इसमें अनुभूति के बाद का प्रभाव रहता है, ताजगी और आनन्द का बोध रहता है। यह अनुभूति की सकारात्मक स्थिति है। तीसरा स्तर पहचान और

व्याख्या का स्तर होता है । यह स्तर परम सत्यानाशी स्तर है । इसमे नई अनुभूति झुठला दी जाती है और नष्ट कर दी जाती है । प्रत्येक अनुभूति के केन्द्रबिन्दु मे सत्य रहता है । उसी के चारो ओर असत्य का मोटा पर्दा पडा रहता है । किसी भी परिबद्ध मस्निष्क मे पहले दो स्तर या तो क्षणिक होते है अथवा सर्वथा लुप्त रहते हैं—केवल तीसरा स्तर उपस्थित रहता है । मनुष्य को अनुभूति तो शायद ही कोई होती है, केवल उत्तेजना की पुनरावृत्ति अथवा किसी स्मृति का प्रक्षेपण । अत ऐसा मस्तिष्क ऑखे मूँदे और सच्ची अनुभूति प्राप्त किए हुए जीवन मे असख्य अनुभूतियो के भीतर होता हुआ चला जाना है । ऐसा मस्निष्क मुर्दा जैसा होता है । वह टेपरिकार्डर की तरह यात्रिक रूप मे अपनी अनुभूनियो को दोहराता वला जाता हैं । एसा मस्तिष्क मृत्यु जैसी खिन्नता, बोरियत महसूस करता है और इसी स्थिति मे वह नई अनुभूतियो की खोज मे लगा रहता है । इस प्रकार की खोज फिर जीवन से बचाव का एक बहाना बननी है और इसलिए अब उसके लिए नई सच्ची अनुभूति का द्वार बन्द हो जाता है । अनुभूति खोज द्वारा नही मिलती । अनुभूति तो स्वत (अपने आप) होती है जिसे खोजा जाता है । वहॉ उत्तेजना होती है, (सच्ची) अनुभूति नही । मनुष्य जब उत्तेजना के पीछे दौडता है और उसकी पुनरावृत्ति करता है तो व्यग्रता और ऊब आने लगती है ।

इन्द्रियजन्य सुखो से ऊबा और असतुष्ट मस्तिष्क स्थायी सुख खोजता है, आध्यात्मिक अनुभूतियॉ खोजता है । अनुभूतियो को वह सासारिक या आध्यात्मिक कहकर विभाजित करता है । तब आध्यात्मिक अनुभूतियो की खोज उसके लालच और आत्मतुष्टि की एक नई वस्तु बन बैठती है । मानवीय मस्तिष्क मे ऐसी क्षमता है कि वह बडी-बडी काल्पनिक कथाएँ खोज निकालता है और जो मस्तिष्क आध्यात्मिक अनुभूतियो की खोज मे दीवाना हो वह ऐसी काल्पनिक कथाओ की रचना करने लगता है । लालची मस्तिष्क छिछला होता है । वह अपनी ही कृति की, अपने ही प्रक्षेपण की सत्य के रूप मे उपासना करता है । ऐसा मस्तिष्क निरन्तर भ्रम मे पडा रहना है ।

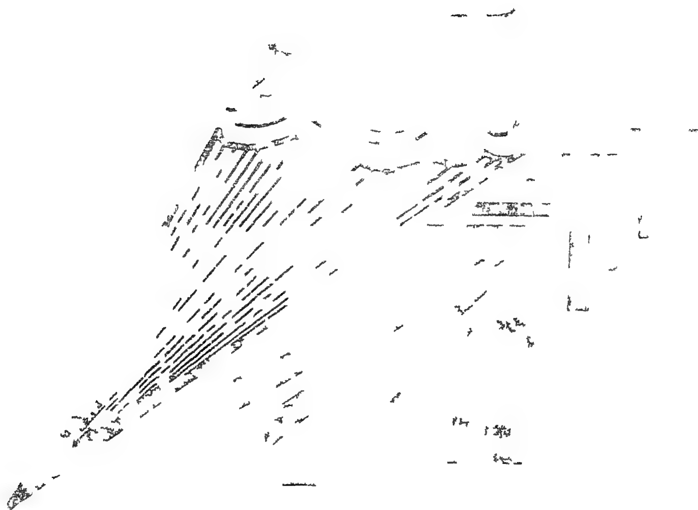
शुद्ध भौतिक या तकनीकी क्षेत्र मे कुछ मात्रा मे सचय या सग्रह आवश्यक होता है । परन्तु तकनीकी शिक्षण मे भी यदि मनुष्य यात्रिक न होकर मानवीय बना रहना चाहता है तो उसमे नम्रता आवश्यक होती है । यदि तकनीकी अनुभूति के सचय पर प्रतिष्ठा या मर्यादा का महल नही खडा किया जाता तो उस सचय के

कारण कोई समस्या नहीं खडी होती । परन्तु मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे अनुभूतियो का सचय अनुभवकर्ता का बल होता है और उसके अह का निर्माण होता है । यह अह अत्यन्त विनाशक वस्तु है क्योकि इसके चलते सच्ची अनुभूति की सम्भावना ही लुप्त हो जाती है । इसलिए यात्रिक अथवा भौतिक स्मृति तो बनी रह सकती है, परन्तु सच्ची अनुभूति की प्राप्ति के लिए सुख और दु ख की मनोवैज्ञानिक व्याख्या तो समाप्त ही हो जानी चाहिए । जब इस प्रकार की व्याख्या समाप्त हो जाती है तो मस्तिष्क निर्मल और निर्दोष बन जाता है । जब खोज या लालसा समाप्त हो जाती है तो मस्तिष्क सरल और लोभ-शून्य बन जाता है । ऐसा मस्तिष्क शान्ति और आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत रहता है । तब बिना बुलाए ही ऐसे मस्तिष्क मे सत्य का प्रवेश होता है ।

मस्तिष्क जब स्मृतियो और खोज की दौड-धूप से मुक्त होता है, तो वह सवेदनशीलता की अत्यन्त ऊँची स्थिति मे पहुँच जाता है । वह शान्त और स्थिर हो जाता है । ऐसे मस्तिष्क के आगे से असख्य अनुभूतियॉ निकल जाती है, पर उनका कोई चिह्न उस पर नहीं रहता । उस पर स्मृति का कोई धब्बा नहीं रहता । ऐसा मस्तिष्क पवित्र और अखण्डित होता है । जब अनुभूति और अनुभवकर्ता एक हो जाते है तो स्मृति नहीं रह जाती । स्मृति तो अधूरी अनुभूति का अवशेष होती है । अनुभूति की सर्वोच्च स्थिति है अननुभूति । यह अननुभूति ही समग्र या पूर्ण मुक्ति होती है ।

अनुभूति सुख नहीं है । किसी अनुभूति के द्वारा सुख की खोज को अनुभूति का नकार ही माना जाएगा । अनुभूति सतुष्टि भी नहीं है । सतुष्टिदायक अनुभूति तो ऐसी उत्तेजना मानी जाएगी जो आत्मसात् नही हुई है । किसी भावना, विचार अथवा औषधि द्वारा प्राप्त उद्दीपन केवल एक प्रतिक्रिया है । वह कोई सच्ची अनुभूति नहीं है । जहॉ तक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, उससे मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती । किसी अनुभूति की उपयोगिता अथवा सार्थकता उस बात मे है कि उसके द्वारा आत्मज्ञान के द्वार खुल जाने की सम्भावना हो । अनुभूति को अननुभूति के रूप मे देखना बुद्धि की परमोच्च स्थिति है ।





बिना किसी प्रमाण के किसी वस्तु या तत्त्व पर विश्वास कर लेना श्रद्धा के अन्तर्गत आता है। जो व्यक्ति इस तरह विश्वास कर लेता है, उसका मस्तिष्क सरल होना चाहिए और उसमे बालक जैसी निर्दोषिता होनी चाहिए। ऐसी सरलता और निर्दोषिता से ही श्रद्धा वास्तविक रूप मे विकसित होती है और पूर्णता को प्राप्त होती है। और यह बात तो है ही कि श्रद्धा अनेक चमत्कार ला सकती है क्योंकि विचार मे जब स्वेग और सरलता भर जाती है तो उसमे महान् शक्ति आ जाती है।

भूतकाल मे श्रद्धा ने मानव-मस्तिष्क की अनेक समस्याओ का समाधान किया है। प्राचीन अवतारो और गुरुओ ने [illegible] का उपदेश दिया और अधिकाश लोगो ने उनके उपदेशो को स्वीकार कर लिया। परन्तु पिछली दो शताब्दियो के भीतर विज्ञान तथा विवेकपूर्ण विचार की दिशा मे बडी प्रगति हुई है। मानव-मस्तिष्क ने अपनी सीमाओ को खूब फैला दिया है और अब वह ऐसे प्रदेश मे पहुँच गया है जिसका अभी तक किसी का पता भी नही था। इन वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगतियो ने मानवीय जीवन के सभी क्षत्रो को प्रभावित किया है। धार्मिक क्षेत्र मे तो उसने विशेष रूप मे अपना प्रभाव डाला है। जीवन की तर्कसगत पद्धति ने जो

अनेक प्रश्न खडे कर दिए है—उनका बिना प्रमाण के विश्वास कर लेने वाली श्रद्धा के पास कोई उत्तर नही है । इस कारण आज उन सभी मूल्यो का समाप्ति-सी हो गई है जो श्रद्धा के आधार पर खडे हुए थे । मानव-मस्तिष्क कुछ ऐसे नए मूल्यो की स्थापना करने मे असमर्थ रहा है जिनसे तर्क और श्रद्धा के बीच सन्तुलन स्थापित किया जा सके । मानव-मस्तिष्क की स्थिति अज्ञात सागर मे बिना पतवार की नाव जैसी हो रही है । उसके सामने इस युग का सबसे बडा सकट चेतना का सकट है ।

हाल के युग मे कुछ स्वय बने-बनाए अवतारो और गुरुओ ने कुछ नई श्रद्धाओ का घोषणा की है और ऐसा लगता है कि उनके अनुयायी लोगो का सख्या बडी तीव्र गति से बढती चल रही है । निराशा से पोडित मानव-मस्तिष्क किसी भी तिनके को मजबूती से पकड लेने के लिए तयार है और प्रचार तथा विज्ञापन के आधुनिक साधनो के चलते ऐसा जान पडता है कि धार्मिक भावना मे पुनर्जीवन आ गया है । परन्तु यदि इस प्रचार और मनोमार्जन को अनवरत रूप से जारी नही रखा गया, तो शायद इसका जोश बना नही रहेगा । आज हो या कल तर्क, शका और सदेह की कुतरने वाली कानाफूसी से नवस्थापित इन धम सम्प्रदायो और दर्शनो की लुटिया डूबे बिना न रहेगी ।

इन चुनौतियो का सामना करने के लिए कुछ धमग्रन्थ, कुछ धर्म सम्प्रदायो ने वैज्ञानिक उपपत्तियो के आधार पर आत्मविद्या की व्याख्या करने की चेष्टा की है । परन्तु ये उपपत्तियाँ मिथ्या विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । पूर्ण सत्य अथवा समग्र वास्तविकता सदेव ही बुद्धि की सीमा से परे ही रहेगी और इसलिए वह केवल इस सरल कारण के चलते विज्ञान और तर्क से ऊपर रहेगी कि कोइ भी अश—फिर वह कितना ही उज्ज्वल अथवा बडा क्यो न रहे—समग्र की प्रदक्षिणा नही कर सकता । प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति मे समस्या का निदान क्या है ?

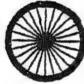
स्पष्ट है कि इसका निदान न तो किसी सूत्र या नुस्खे मे है और न किसी दार्शनिक विचारधारा मे ही है । वह तो तर्क की चरम सीमा की खोज के लिए तर्क के गम्भीर एकाग्र प्रयोग मे ही निहित है । उसकी उपलब्धि केवल तब होती है जब मस्तिष्क अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करने के बाद थक जाता है और तर्क द्वारा प्राप्त होने वाला सारा प्रकाश मद पड जाता है । तभी वह शान्ति मे विश्राम कर सकता है । केवल इसी शान्ति के भीतर वास्तविकता का प्रतिबिम्ब पडने की

सम्भावना रहती है। इस वास्तविकता को हम सत्य, सुन्दर, ईश्वर अथवा चाहे जो नाम दे सकते है। उसका प्रत्यक्ष होने पर मनुष्य ऐसी नई श्रद्धा की प्रधान कमानी खोज सकता है जो श्रद्धा, धार्मिक जीवन का एक नया भाग होगी। वह धार्मिक सम्प्रदायो की धर्मान्धिता से मुक्त होगी और वह सारे मानव-समुदाय को प्रेम और मतैक्य के सयुक्त सूत्र मे बॉध सकेगी। ऐसी श्रद्धा जो किसी अफवाह या प्रवाद पर अथवा दूसरो की अनुभूतियो पर आधृत नही होगी, अपितु साक्षात्कार पर प्रतिष्ठित होगी। वह मानवीय तर्क का विरोध न करके उससे ऊपर उठ जाएगी। वह मानव जाति के भावी धार्मिक जीवन की आधारशिला बन सकती है।

दूसरे शब्दो मे इसे यो कहा जा सकता है कि सरल रूप से बिना शर्त की स्वीकृति के आधार पर निर्मित श्रद्धा के स्थान पर नई श्रद्धा अनवरत जिज्ञासा पर आधृत हो, जिसमे शका और सदेह करने की जबर्दस्त क्षमता निहित हो। पुराने युग मे अन्त-स्फूर्त जागरूकता से श्रद्धा का जन्म होता था। अब वह गहरी अन्तर्दृष्टि तथा समग्र बोधशक्ति के आधा पर खडी होनी चाहिए। इसका आरम्भ आत्मजागरूकता और आत्मज्ञान से होगा। पूर्ण और सर्वांगीण कर्म तथा पूर्ण मुक्ति से उसकी परिसमाप्ति होगी। ऐसी समग्र श्रद्धा को तर्क चाहे जितना प्रयत्न करके भी काट नही सकेगा। ऐसी श्रद्धा ही इस युग की और भावी युग की श्रद्धा होगी। ऐसी श्रद्धा की खोज करना ही सच्चे ध्यान का लक्ष्य है।

अब हमारे समक्ष केवल दो ही सम्भावनाएँ रह जाती है। एक तो यह कि हम सर्वोच्च सकल्पना को स्वीकार करे—श्रद्धा से, सरल भाव से, सतत प्रयत्न से, उत्साहपूर्ण सामीप्य से अथवा उसके साथ तादात्म्य से। इस पद्धति से हम उसका साक्षात्कार करे। इसका परिणाम आश्चर्यजनक, अद्भुत और सतोषदायक हो सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति मे मनुष्य अपनी ही सकल्पना का अथवा प्रत्यय-सम्बन्धी सत्य का साक्षात्कार करता है। दूसरी सम्भावना सतन जिज्ञासा करते रहने की है। उसमे जो कुछ ज्ञान है, सबका अस्वीकार करते चलना है। इस मार्ग पर चलकर हम ऐसी शाति को प्राप्त कर सकते है, जिसमे सत्य अपने-आप प्रकट या प्रस्फुटित हो सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रत्यक्ष और सबसे छोटा मार्ग—यदि हम इसे मार्ग का नाम दे—तो यही है कि हम जिज्ञासा, प्रश्न और अस्वीकृति की पद्धति से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करे। अस्तु सत्य को उपलब्धि के लिए सभी शब्दो और प्रतीको को अस्वीकार करना होगा। इसके अतिरिक्त इसमे विद्रोह की तीव्र

भावना के साथ-साथ गहराई, भाव-प्रवणता और अतृप्त असन्तोष की आवश्यकता है। यदि हमारे भीतर इन गुणो का अभाव है अथवा हम इन गुणो को प्राप्त करना नही चाहते तो हमारे पास केवल यही विकल्प बचता है कि हम ईश्वर की सर्वोच्च सकल्पना को प्रेम और सौन्दर्य के रूप मे स्वीकार कर ले और अनन्य भक्ति के मार्ग द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यदि हमने रुपया पैसा, धन दौलत, प्रतिष्ठा, सामाजिक हैसियत के रूप मे बाहरी सम्पत्ति जुटा ली है अथवा ग्रथो, मत्रो और मूर्तियो मे विश्वास के रूप मे आन्तरिक सम्पत्ति बटोर ली है और हम अपने इस सग्रह से मुँह मोडने के लिए तैयार नही है, तो हमारे सामने केवल यही एक रास्ता रह जाता है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि इस पथ पर चलते चलते हम यथासमय श्रद्धा की शक्ति को और श्रद्धा से उपलब्ध होने वाली अविनाशी सम्पत्ति को प्राप्त कर ले तथा हमारे मानस पर से भौतिक और मनोवैज्ञानिक सम्पत्ति की पकड ढीली होती चली जाए और हममे सर्वोच्च सकल्पना प्राप्त करने की महत्त्वाकाक्षा जग पडे। हमारा बडा सौभाग्य होगा यदि हम उस सारे जजाल से छूटकर सर्वोच्च सकल्पना से भी ऊपर उठकर पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ले।



संकल्पना

भक्त लोग प्राय यह प्रश्न करते हैं—"ईश्वर मे मरी श्रद्धा है परन्तु वह दुर्बल है। वह निष्कम्प लौ जैसी जलती हुई नही है। मै मनन (Contemplation) मे बैठता रहा हूँ। मै किसी मत्र का जप भी करता रहा हूँ, फिर भी मेरा मन इधर-उधर घूमा करता है। तो एकाग्र भक्ति का मार्ग क्या है ?" यहाँ समझने की पहली बात यह है कि सच्ची दिलचस्पी रहने से मन एकाग्र होता है। यदि हम किसी वस्तु मे पूर्णत अनुरक्त हो तो मन कभी भी इधर-उधर नही भटकता। यदि हममे अपनी विचार सम्बन्धी सकल्पना के प्रति पूरी श्रद्धा हो, उसके प्रति सच्चा प्रेम हो तो मन कभी-कभी अन्यत्र नही भटकेगा। अधिकाश लोगो के साथ यही कठिनाई होती है कि वे अपने चेतन मानस मे तो ईश्वर पर विश्वास करते है परन्तु अपने अचेतन मानस मे वे असख्य सघर्षमय आसक्तियो से बँधे रहते है। यदि भक्ति-भावना को विकसित करना है तो भक्तो को चाहिए कि वे अपने अचेतन मानस को इन सघर्षमय आसक्तियो से मुक्त कर ले। इस प्रकार वे अपने अचेतन मानस को समझ सकेगे और तब वे अपन चेतन मानस के साथ उनका तालमेल बैठा सकेगे। ऐसा करने पर वे अपनी सर्वोच्च सकल्पना की दिशा मे तेजी से आगे बढ सकेगे।

साधना के लिए जहाँ तक सम्भव हो एक निश्चित समय स्थिर कर लेना

चाहिए उसके लिए शोरगुल और विघ्न-बाधाओ से मुक्त एक अलग छोटा-सा कमरा अथवा कमरे का कोई कोना वाछनीय है। तन-मन को शिथिल करने के लिए ठडा और स्फूर्तिदायक स्नान सहायक होता है यद्यपि यह परम आवश्यक नही है इसके बाद किसी सुखदायक अनुकूल आसन पर बैठकर मेरुदण्ड और सिर को सीधा रखे। गहरी तालबद्ध श्वासो से आरम्भ करे। इन श्वासो पर अपना मन एकाग्र करे। इन गहरी श्वासो से दिमाग को अतिरिक्त ऑक्सीजन (आक्सिजन, प्राणवायु) मिलेगी। उससे थकावट और सुस्ती दूर होगी। साथ ही मस्तिष्क के तनाव ढीला होने मे सहायता मिलेगी। गहरी साँसे लेते समय मन पर दृष्टि रखिए। आप देखेगे कि जब तक साँस गहरी और नियमित रहती है तब तक मन इधर-उधर नही भटकता।

अब दूसरा कदम उठाइए मन को साँस पर एकाग्र करना बन्द कर दीजिए और अचेतन मन को इस गहरी नियमित साँस पर अपना नियत्रण करने दीजिए। यदि आप किसी मत्र का जप कर रहे है और उसे जारी रखना चाहते है तो उस मत्र के यात्रिक रूप मे जल्दी-जल्दी मत जपिए। उसके स्थान पर उस मत्र का मानसिक रूप से उच्चारण करिए परन्तु उसे गुजायमान मधुर सगीतमय तालबद्धता के साथ जपिए यह सगीतमय ताल बडी महत्त्वपूर्ण है। सगीत के साथ भावना सहज और सरल रूप मे जुड जाती है। इस सगीतमय नाद का केवल सुनने का ही प्रयत्न मत करिए, बल्कि ऐसा महसूस करिए कि आपके सारे तन-मन मे और अस्तित्व मे य सगीत की लहरियाँ लहरा रही हैं। यदि आप सही ढग से इतनी दूर तक बढ जाएँगे तो आप देखेगे कि आपका मन अब भटकता नही है, बल्कि वह सगीत की इन लहरियो के साथ एकाकार हो जाता है।

कोइ भी व्यक्ति कितनी ही देर तक इस स्थिति मे रह सकता है। परन्तु हमे मन की सतृप्ति के बिन्दु से ऊपर नही जाना चाहिए। आरम्भ मे इसमे पन्द्रह मिनट से अधिक समय न लगाएँ। अब मन भटकता नही है। मन मे अब शान्ति और समरसता रहती है। इस बिन्दु पर पहुँचकर चेतन और अचेतन मानस अपना जीवन-व्यापी सघर्ष छोड देते है और दोनो परस्पर मिलकर शात रहते हैं। हमारी सर्वोच्च सकल्पना, हमारा देवता, हमारा इश्वर हमारे अचेतन मानस का सर्वोच्च बिन्दु है। उसे हम अत्यधिक चेतन (Super-conscious) कह सकते है। अब हमारा इस शक्ति के साथ सम्पर्क होता है। हम इससे भयभीत न हो। हम भय-विस्मय

की दृष्टि से इसकी ओर न देखे । यह तो हमारे अस्तित्व, हमारे मानस का एक अश ही है । हमे इस शक्ति के साथ सामजस्य और एकरूपता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए । ईश्वर का भय एक विनाशक अवधारणा है । ईश्वर तो प्रेम है, प्रेमस्वरूप है और भय है अलगाव । उस शक्ति से पृथक्ता का नाम है भय ।

जब हम सामजस्य और शाति की इस स्थिति पर पहुँच जाते है तब हमे धीरज से इस बात की प्रतीक्षा करनी चाहिए कि यह परम शक्ति हमारे साथ सम्पर्क करे । यह सम्पर्क किसी भाव, सदेश या सकेत के रूप मे हो सकता है । जैसे-जैसे समय बीतेगा आप इन सम्पर्को को समझना आरम्भ कर देगे । कभी-कभी ऐसा अवसर आ सकता है जब अचेतन मानस की लालसाओ से इन सदेशा की विकृति हो जाए । तब सत्य और असत्य के बीच भेद करना कठिन हो सकता है । यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि परम सत्य सामजस्य होता है और यदि कोई वस्तु हमे सामजस्य और एकत्व की ओर, उस महत्त्वाकाक्षा की ओर ले जाती है तो वह 'सत्य' है और जो वस्तु सघर्ष पैदा करती है, वह 'असत्य है ।

मनुष्य की साधना मे ऐसा समय आ सकता है जब वह आन्तरिक नाद (अनाहत नाद) की लहरियाँ सुनने लगता है । इस स्तर पर वह मत्र का जप करना छोड दे सकता है क्योकि उसका उपयोग तो चेतन मन और तन को शात करना ही होता है । जब ये शब्द सुनाई पडने लगे तो यह आवश्यक है कि केवल दाहिने कान से सुनाई पडने वाले शब्द सुने जाएँ और बाएँ कान से सुनाई पडने वाले शब्दो की उपेक्षा की जाए । प्राचीन युग के सन्तो को शायद इस बात का पता था कि दिमाग (Brain) के दाहिने अर्धगोलक के कृत्य कैसे होते है और इसलिए उन्होने साधको को इस बात की सलाह दी कि वे केवल दाहिने कान से ही सुन पडने वाले शब्दो को सुने । इससे उन अन्त -स्फूर्तिमय और अनुबोधक क्षमताओ के विकास मे सहायता मिलेगी जिनके साथ दिमाग का दाहिना अर्धगोलक सम्बद्ध है । इसके बाद साधको को वह नाद सुनना चाहिए जो नीचे हृदय केन्द्र की ओर, फिर नाभि केन्द्र की ओर जाता है । तब मनुष्य एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचता है जिससे उसका सम्पूर्ण शरीर उस नाद की लहरियो से लहराता जान पडता है । इस बिन्दु पर पहुँचकर यह बात सरलता से समझ मे आ जाती है कि शरीर केवल स्थूल द्रव्य या जड वस्तु नही है, वह स्पन्दनशील, थर्रानेवाली शक्ति है । कोई व्यक्ति शरीर के भीतर निवास करने वाली इन शक्तियो की गतिविधि पर नियत्रण कर ले तो उससे

[illegible]तिक शारीरिक स्वास्थ्य और कल्याण की वृद्धि मे सहायता प्राप्त होगी ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस आन्तरिक नाद के इस भीतरी सगीत के सुनने के लिए तन-मन को उचित [illegible] स्थिति मे होना चाहिए । इन आन्तरिक लहरियो को ठीक ढंग से समझ लेने पर आन्तरिक यात्रा मे तेजी से निर्विघ्नतापूर्वक आगे बढ़ने मे बड़ी सहायता मिलती है । ये लहरियाँ उत्तम सगीत की लहरियो की [illegible] होती है । वे तन-मन के विविध [illegible] करने के लिए भिन्न-भिन्न [illegible] की आवश्यकता होगी उन्हे स्वय [illegible] । एक बात और । नाद-श्रवण के प्रति हमारा [illegible] उसी पर बहुत कुछ निर्भर करता । यदि [illegible] इन नादो को सुन जाए तो मन इन नादो से भी ऊपर उठ सकता है ।

[illegible] यदि किसी मंत्र का जप नहीं कर रहे है और [illegible] तनावहीन ध्यान करना चाहते है तो आप अपने समग्र व्यक्तित्व द्वारा शान्ति और सामजस्य की भावना महसूस करने का प्रयत्न करिए । [illegible] और सतुलन की स्थिति मे कल्पना और भावना मे एक ऐसी शक्ति आ जाती है जिसका कि सामान्य चेतन के स्तर मे कोई पता नहीं लगता । तनावहीन ध्यान करते समय यह बात स्मरण रखना परम आवश्यक है कि मन को [illegible] द्वारा किसी विशेष बिन्दु की ओर नहीं ढकेलना चाहिए । कुछ साधना सम्प्रदाय ऐसी सलाह देते है कि दोनो भौहो के मध्य मे अथवा नासिका के सिरे पर ध्यान को एकाग्र करना चाहिए । आँखो को जब इन बिन्दुओ पर एकाग्र किया जाता है तो प्रकम्पित स्नायु-नाड़ियो मे उत्तेजना या उद्दीप्ति पैदा होती है जिसमे अनेक प्रकार के प्रकाशो और रंगो के संवेदन उत्पन्न होते है । परन्तु एकाग्रता की यह जबर्दस्त शक्ति मन के भीतर विरोध की भावना उत्पन्न करती है जो कि वाछनीय नहीं है । इसलिए आँखो को तनावशून्य और स्थिर रखना चाहिए । यदि आँखो को बन्द रखना हो तो उन्हे शिथिल या तनावशून्य रखने का एक उत्तम उपाय यह है कि ऐसा कल्पना की जाए कि आँखो के आगे एक नीला प्रकाश फैला है । इससे वे स्वत अचल और स्थिर हो जाएँगी । कभी-कभी अनेक प्रकार के प्रकाशो की अनुभूति हो सकती है, परन्तु इन प्रकाशो का कोई बडा मूल्य नही है । फिर भी यदि ऐसी कल्पना से कोइ सहायता ले ली जाए तो उसमे कोइ बुराइ भी नहीं है ।

प्रत्येक व्यक्ति साधना कर सकता है बशर्ते कि वह यह समझ ले कि इस

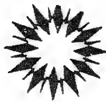
प्रकार से प्राप्त होने वाला सम्पर्क सर्वोच्च सत्य या तथ्य से नही प्राप्त होता । वह अचेतन मानस के सर्वोच्च बिन्दु से अथवा नादो के ससार से प्राप्त होता है । यह यात्रा मानसिक या मनोविषयक अथवा अन्तर्दृष्टि के स्तर की होती है जो कि चेतन और अचेतन मन की पहुँच के परे सच्चे आध्यात्मिक स्तर से भिन्न है । इस साधना का लाभ यह है कि इस शक्ति के साथ सम्पर्क साधने के बाद जब हम किसी सकट मे होते हैं और हमारे सामने कोई ऐसी समस्या आ जाती है जिसका समाधान निकालने मे हम अपने को असमर्थ पाते है, तो हम अपनी यह समस्या उसके समक्ष उपस्थित कर सकते है । यदि हम ऐसा महसूस कर सके कि इस शक्ति ने हमारी यह समस्या अपने हाथ मे ले ली है और इस बात को हम अपने मन मे स्थिर कर ले तो यथासमय हमे यह देखकर आश्चर्य होगा कि यह समस्या बडी सरलता और कुशलता से हल हो गई है । जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नही है जो इस प्रकार हल न की जा सके । अस्तु, यहाँ चेतावनी की एक बात कह देनी है । हम एक परम पवित्र क्षेत्र मे चल रहे है । हम अपने अस्तित्व के आन्तरिक मन्दिर मे है । हमे चाहिए कि हम प्रत्येक वस्तु को स्वच्छ मन से ही स्पर्श करे । हम इसे खेल की वस्तु न बनाएँ । कारण, इस शक्ति का दुरुपयोग करने पर बहुत भारी दण्ड मिलता है । ऐसी आशा है कि इस सौदर्य और शक्ति की अनुभूति कर लेने के बाद मनुष्य ऐसा समझने लगता है कि बाहरी अथवा भीतरी सारी सम्पत्ति हमारे भीतर रहने वाले सूत्र से ही आती है । इस अनुभूति के प्राप्त होने पर हमारी लोभ और सचय की वह भावना मिट सकती है, जिससे हम अभी तक लम्बे काल से पीडित होते आए है । इससे जीवन की असुरक्षा और भय की भावना सर्वथा लुप्त हो सकता है, क्योकि इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते हम यह समझ जाते है कि भय और असुरक्षा की भावना विचार के कारण आती है और यह विचार अपने-आपको इस परमोच्च शक्ति से दूर रखता है ।

इतनी दूर जाकर अचेतन मानस की शक्तियो को देखकर हमे इन सभी शक्तियो से वितृष्णा हो सकती है और तब हम सबसे मुँह मोडकर उस परमोच्च सत्य को खोजने के लिए अन्तिम छलॉग मे पार कर सकते है जो चेतन और अचेतन दोनो प्रकार के मन के परे है और जो सारे ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियो का चरम सूत्र है ।

अचेतन मानस के भिन्न-भिन्न स्तरो से होकर आगे बढते समय यह स्मरण

रखना अच्छा होगा कि एक अनुभव के बाद दूसरा अनुभव काल-क्रमानुसार होता चलता है। फिर भी हमे अपनी प्रगति और गतिविधि को नापकर मनोवैज्ञानिक काल का निर्माण नही करना चाहिए। हम जब तक अचेतन मानस की भूलभुलैया मे चक्कर खा रहे है तब तक कोई वास्तविक गतिविधि होती ही नहीं। यह सब हमारे स्वय के भीतर स्थित है। आज हम सर्वोच्च चोटी पर पहुँचते है और कल ही लड-खडाकर नीची घाटी मे जा गिरते है, परसो हम फिर ऊपर चढने लगते है। यह एक पहाडी यात्रा की तरह है जिसमे कभी कुहासा है कभी कुहरा, कभी उतार है, कभी चढाव।

सच्ची आध्यात्मिक यात्रा तो शायद तब शुरू होती है जब अचेतन के व्यापक दृश्यपटल की सारी शक्तियो और सिद्धियो मे हमारी कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती। इस महान् असन्तोष के फलस्वरूप और उस शून्य के फलस्वरूप जो हमारे यह समझ लेने पर आती है कि मन की सीमाओ से पार जाने के हमारे सारे प्रयत्नो सारी प्रक्रियाओ और सारी पद्धतियो की एक सीमा है, इस जागरूकता के फल-स्वरूप हमारे अपने भीतर एक विस्फोट होता है। हम चलना बन्द कर देते है। और स्थिरता मे, इस शाति मे वह परमोच्च सत्य, वह परमोच्च वास्तविकता हमारे समक्ष आ खडी होती है। तब सच्ची आध्यात्मिकता का श्रीगणेश होता है।



मानवीय मानस और उसकी गठन



मानवीय मानस वस्तुत पुरानी स्मृतियो और अनुभवो का भण्डार है, फिर वे चाहे चेतन मानस की हो चाहे अचेतन मानस की, चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक। उसी मे मे विचार का जन्म होता है। उसमे अपने पशु जीवन के अस्तित्व से लेकर अब तक के विकास की सारी प्रक्रिया मे विरासत से मिले सारे नैसर्गिक भय और सवेग भरे रहते है।

मानवीय मानस का वैशिष्ट्य क्या है ? क्या विचार ही नही है ? विचार से ही तो हमे इस बात का सज्ञान होता है कि मानस जसी कोई वस्तु होती है। यदि विचार नहीं है तो मन भी नहीं है। ऐसा हम मानते-जानते है। स्मृति से उत्पन्न शब्दो या प्रतीको का सम्मिश्रण ही तो विचार है। स्मति भूतकाल होती है। हाल की खोजों[1] से पता चला है कि स्मृति प्रकृत्या रासायनिक है। अत वह यात्रिक और भौनिक है। स्मृति की यह भी प्रकृति है कि वह चुनाव करती है और सुख-दु ख क सिद्धान्त पर आधृत है। जो वस्तु सुखदायक प्रतीत होनी है उसका पोषण किया

1 हूस्टन के बेलर मेडिकल कालेज के डॉ० जार्ज अगर का दावा है कि उन्होंने एक ऐसा रसायन अलग किया है जो अन्धकार के भय का प्रतिनिधित्व करता है। (जर्नल आफ दि इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन . 96/79 or . 16/71)

जाता है उसकी रक्षा की जाती है और वह स्मृति के भण्डार में जमा कर ली जाती है। परन्तु जो वस्तु दुःखदायक प्रतीत होती है वह दबा दी जाती है और अचेतन के स्तर में डेल दी जाती है। अतः स्मृति प्रतिबद्ध होती है। वही दशा उससे उत्पन्न होने वाले विचार की होती है। विचार को चाहे जितना संशोधन कर लिया जाए अथवा उसका विस्तार कर लिया जाए वह सदैव अनुकूलित, पुराना और यांत्रिक ही रहता।

जीवविज्ञान की दृष्टि से मानव के सारे शरीर का ढाँचा जिसमें दिमाग (Brain) भी शामिल है—जीवित बने रहने के अनुजीवन के मूल आधार के अनुसार अनुकूलन करता है। मानस के अचेतन प्रति भाव भी उसी दिशा में जाते हैं। चेतन स्तर पर जब शिक्षण की प्रक्रिया आरम्भ होती है तो भौतिक अनुजीवन के स्थान पर मनोवैज्ञानिक अनुजीवन पर अधिक बल दिया जाने लगता है। इस स्थिति पर पहुँचकर सुख को बढ़ाने और दुःख को टालने की भावना आती है। भौतिक स्तर पर सुख और दुःख जीवविज्ञान सम्बन्धी रक्षण कार्य करते हैं, परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर पर इस भावना के चलते 'मैं' और 'मुझे' का मनोवैज्ञानिक केन्द्र बनता है और पुष्ट होता चलता है। यह केन्द्र 'मैं' के मूल विचार को केन्द्रबिन्दु बनाकर विकसित होता है। वह अपने चारों ओर प्रतिबद्ध प्रतिवर्त एकत्र कर लेता है जो मनोवैज्ञानिक सुख के आधार पर खड़े होते हैं। इस विकास के आरम्भिक काल में ये मनोवैज्ञानिक सुख व्यक्ति के शारीरिक या भौतिक कल्याण से संघर्ष करने लगते हैं।

सरलतम स्तर पर शिक्षण और अनुबन्धन अविभाज्य प्रक्रियाएँ हैं। शुद्ध भौतिक स्तर पर शिक्षण में प्रतिबद्धता आ जाती है। परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रतिबद्धता का शिक्षण से संघर्ष होने लगता है। प्रतिबद्धता जैसे-जैसे पुष्ट होती है वैसे-वैसे शिक्षण समाप्त हो जाता है और मानव-मन का प्रस्तरीकरण हो जाता है। तब मन केवल तन से ही संघर्ष नहीं करता अपितु अपने-आप से भी संघर्ष करने लगता है। मनोवैज्ञानिक सुख अविभाजित सम्पूर्ण नहीं है। एक सुख की दूसरे सुख से टक्कर होती है और उससे मन अपने में संघर्षरत हो जाता है। आज मानव-मन का ढाँचा प्रतिबद्धता पर खड़ा है। प्रतिबद्धता अपने में पुनः-पुनः शक्ति भरती है और आचरण के कटाव के खाँचे के साँचे खड़े करती है जिसमें स्वतंत्रता और सच्ची प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। दिमाग में कोई जन्मजात यांत्रिकता नहीं रहती जो

प्रतिबद्धता की प्रक्रिया को उलट-पल्नट दे । प्रतिबद्ध मानस किसी प्रयत्न या प्रक्रिया के द्वारा अपने को प्रतिबद्धता से मुक्त नही कर सकता । प्रतिबद्धता के नष्ट होने का एकमात्र उपाय है किसी विस्फोट या आघात-प्रघात का लगना । जीवन इस प्रकार के आघात प्रतिदिन बडी सख्या मे उपस्थित करता रहता है । यदि कोई मनुष्य [illegible] रीति द्वारा अपने को ऐसी स्थिति मे से बचा नही लेता और वस्तु-स्थिति का डटकर सामना करता है तो उसमे प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो प्रतिबद्धता को खण्ड-खण्ड करके उडा देती है और मानस मे नया जीवन ले आती है । यदि मनोवैज्ञानिक सुख हस्तक्षेप न करे तो दिमाग और शरीर सतत अपने मे नवशक्ति का सचरण करने लगेगे ।

सामान्य रूप से विचार घर्षण और सघर्ष उत्पन्न करता है और वह दिमाग की शक्ति को घटाता है । दिमाग के कोषाणु जीर्ण-शीर्ण और बूढे होते जाते है । अत ताजा, स्फूर्तिमय, शक्तिशाली और तरुण मानस प्राप्त करने के लिए हमे मनोवैज्ञानिक विचार का अर्थ और महत्त्व खोजना पडेगा । उसके मुख्य केन्द्र का पता लगाना होगा और यह देखना पडेगा कि उसकी समाप्ति हो सकती है या नही । दूसरी बात यह कि हमे यह खोजना पडेगा कि क्या कोई अन्य प्रकार का विचार है जो ध्यान करने वाले शान्त दिमाग की शक्ति मे हस्तक्षेप न करे ? यदि हम इस प्रश्न की गहराई मे उतरेगे तो हम देखेगे कि ये दोनो सम्भावनाएँ केवल परिकल्पना ही नही है, अपितु वस्तुत अनुभव करने योग्य स्थितियाँ है । यह अनुभूति अभ्यास और आध्यात्मिक साधना की लम्बी यातनापूर्ण प्रक्रिया के अन्त मे प्राप्त न होकर हमे अभी तत्काल इसी क्षण प्राप्त होने लगेगी, जैसे ही हम पूरी शक्ति और तत्परता के साथ इस खोज मे रुचि लेने लगेगे ।

यह स्पष्ट है कि स्फूर्तिमय, ताजे, शक्तिशाली और शून्य मानस मे से नई वस्तु को देखने और समझने की क्षमता होती है । क्या इसके लिए अन्य कोई सम्भावना हो सकती है ? क्या सघर्षशील विचारो से थका-पिटा मानस किसी नई समस्या को समझने और सुलझाने की क्षमता रख सकता है ? स्पष्ट है कि ऐसा सम्भव नही है । अत हमारी तात्कालिक समस्या यह है कि हम यह खोजे कि क्या विचार को समाप्त किया जा सकता है और हम यह भी पता लगाएँ कि क्या यह सम्भव है कि हम शात और शक्तिशाली ध्यानस्थ मन से अपना दैनन्दिन जीवन जी सकते है ? ऐसा सक्रिय शक्तिशाली जीवन जीने के लिए हमे उस प्रकार के विचार

(Thought) को खोजना पडेगा जो इस प्रकार का जीवन जीने के लिए आवश्यक है और जो मन की शक्ति को नष्ट नही करता ।

विचार के अर्थ और उसकी प्रकृति की खोज करत-करते एक बडी दिलचस्पी की बात होगी कि यदि हम उन वैद्युतिक परिवतना को देखे जो इलेक्ट्रोएन्सेफलोग्राफ (Electroencephalograph) विद्युत् द्वारा मस्तिष्क एक्स-रे यत्र पर इस बीच अकित होते चलते हैं । चेतना की चार अवस्थाओ के अनुरूप एसे मूलत चार प्रकार होते है । पहली अवस्था वह है जिसमे पूर्ण मानसिक और शारीरिक शाति रहती है । इसे अलफा (Alpha) तरगो द्वारा बनाया जाता है । वे प्रति सेकेण्ड से लेकर 13 चक्कर लगाती हैं और इसमे 50 माइक्रोवोल्ट का वोल्टेज रहता है । यदि शिथिल ध्यान की स्थिति होती है और यह स्थिति उस समय सरलता से प्राप्त हो जाती हैं जब हम शरीर को स्थिर और ढीला रखकर किसी अँधेरे या आधे अँधेरे कमरे मे आखे मूँदकर बैठते है । इस स्थिति मे यह विशेषता है कि हमे बडी शान्ति निश्चलता और प्रफुल्लता प्राप्त होती है । यह सम्भवत मानवीय मानस की मूल स्थिति हैं । इसके द्वारा इन दो प्रकारो मे से एक प्रकार आ सकता है—या तो जागरूकता की स्थिति आ जाए जिसमे बौद्धिक या भावनात्मक क्रिया होने लगे अथवा गहरी शाति की स्थिति आ जाए जिसमे नीद और गहरी नींद आने लगे । मानस जब बौद्धिक या भावनात्मक क्रिया मे जाने लगता है तो अलफा तरगो के स्थान पर बेटा (Beta) तरगे आ जाती हैं जो प्रति सेकेण्ड 13 मे अधिक चक्कर देती हैं और उनमे 20 से 25 माइक्रोवोल्ट से घटा वोल्टेज रहता है । इस प्रकार विचारशक्ति मे गति तो बढती है परन्तु वोल्टेज पहले से घटता है । इस बात से यह पता चलता है कि प्रतिरोध और सघर्ष की मात्रा बढ रही हैं । दूसरी ओर ध्यानस्थ स्थिति मे जब शान्ति और अधिक गहरी होने लगती है तो गति और अधिक घट जाती है । वह प्रति सेकेण्ड 4 से लेकर 8 चक्र के बीच मे आ जाती है और उधर वोल्टेज 100 या 150 माइक्रोवोल्ट थेटा (Theta) तरगो तक बढ जाता है । गहरी नीद या चैतन्य-शून्यता मे गति (Narcosis) प्रति सेकेण्ड 5 और 3 5 चक्रो के बीच रह सकती है और वोल्टेज बढकर 250 या 300 माइक्रोवोल्ट डेल्टा (Delta) तरगो मे हो जाता है । निद्रा की स्थिति निष्क्रिय होती है और सामान्य मानव-मन मानसिक शाति का अभ्यस्त नही रहने से जल्दी ही नींद की स्थिति मे चला जाता है । अस्तु ध्यान के द्वारा मन की सवेदनशीलता और शक्ति

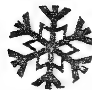
जैसे-जैसे बढती है वैसे-वैसे मन इस गहरी शाति मे सरलता से स्थिर रह सकता है। जब वोल्टेज लगातार ऊँचा रखा जाता है तो वह स्थिति आ जाती है जिसमे विस्फोट या स्फुलिग की सम्भावना रहती है।

मानव के मानस मे प्रतिदिन अनेक विस्फोट होते रहते है। उन्हे दो प्रकार मे बॉटा जा सकता है। एक प्रकार तो वह है जिसमे यह विस्फोट मानव-मस्तिष्क के एक छोटे कोने मे सीमित और सकुचित चेतना के सकारात्मक क्षेत्र मे होना है। तीव्र इच्छा से, सवेग से, औषधियो से या विचार को एकाग्र करने की विभिन्न पद्धति से यह विस्फोट होता है। सगीत अथवा व्यग्र कीर्तन की सगत से तीव्र और गहरी श्वास द्वारा विचार को सुलाकर भी यह विस्फोट हो सकता है। ऐसे विस्फोटो से चेतना का व्यापक विस्तार किया जा सकता है और छुटकारे की परिणामी भावना लाई जा सकती है। परन्तु ऐसे विस्फोट मानव-मस्तिष्क के बहुत छोटे अश मे होने के कारण व मानव-मस्तिष्क को अह के दायरे से बाहर नही ले जा पाते और वे केवल प्रशासक औषधियो का ही काम करते है। अथवा बहुत हुआ तो वे दु ख मे बचने के प्रशासक बहाने बनकर रह जाते है। वे 'मै' और 'मेरे' की मूल समस्या का निराकरण करने मे कभी भी समर्थ नही हो सकेगे।

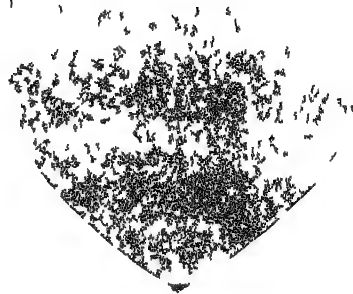
दूसरे प्रकार का विस्फोट जैसा कि पहले बताया जा चुका है—शात ध्यानस्थ मानस मे नकारात्मक क्षेत्र मे होता है। इसमे चेतन और अचेतन दोनो ही मानस शून्य हो जाते है अथवा दु ख की स्थिति मे यदि हम शब्दजाल मनोरजन, मद्य-पान, औषधि सेवन और यौनक्रिया जैसे बचाव के सारे रास्ते बन्द कर दे तो हम दु ख का प्रत्यक्ष सामना कर सकते है। यदि हम इसके सम्बन्ध मे कुछ भी न करे और केवल उसी के साथ जिएँ—पूरे तौर से और गहराई से उसकी अनुभूति करे—तो दु ख की बोतल मे बन्द की हुई इन नकारात्मक शक्तियो मे एक विस्फोट होगा। यह मानव-मस्तिष्क की क्षमता का सबसे बडा विस्फोट होगा। इसमे से दु ख का अथवा नकारात्मक मौन का अपरिवर्तनीय समग्र रूपान्तरण होना प्रेम तथा सौदर्य की सकारात्मक स्थिति मे रूपान्तरित हो जाएगा। यह प्रेम एकसाथ वैयक्तिक भी है, अवैयक्तिक भी। व्यक्तिगत भी है और सार्वदेशिक भी। इस प्रकार समग्र बुद्धि के एक नए स्वरूप का जन्म होता है।

जैसा कि प्रत्येक विस्फोट मे होता है, उसमे से तरगे निकलती है और व्यक्ति-गत मानस समग्र ब्रह्माण्ड के सम्पर्क मे आ जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत

मानव-मन व उसके सारी मनोवृत्ति का प्रभावित करते है। उसके लिए भौतिक सम्पर्क की भी आवश्यकता नहीं पडती यह है जीवन का सर्वोच्च उपलब्धि। वह अभागा है वह मानव जिसने चेतना की इस स्थिति का आविष्कार नहीं किया। जब इस स्थिति की अनुभूति होती है तभी मनुष्य वस्तुतः मुक्त होता है—किसी विशेष वस्तु या घटना से नहीं अपितु भीतरी और बाहरी सारे पर्यावरण से वह मुक्त होता है तब वह जीवन की किसी भी स्थिति का डटकर सामना कर सकता है



पूर्ण शा



सत्य को बिना किसी विकृति के अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि मन सभी प्रकार की इच्छाओ, प्रेरणाओ और भयो से पूर्णत शून्य हो । यह स्थिति न तो किसी प्रकार की जबरदस्ती से लादी जा सकती है ओर न किसी प्रकार के दमन से ही लाई जा सकती है । उसे लाने का उपाय यही हे कि सरल जागरूकता से प्रत्येक विचार या भाव को देखने रहा जाए । न तो उसकी निन्दा को जाए न उसका समर्थन, न उसे न्यायसगत ठहराने का प्रयत्न ही किया जाए । यदि इस जागरूकता को किसी भाव से प्रेग्ति हुए बिना अपना कार्य करना है तो यह नियत्रण, यह सेसग सर्वथा शात और निष्क्रिय होना चाहिए । यह बात समझ लेनी चाहिए कि मन मे शाति लाने के लिए अथवा विचारो से पूर्णत छुट्टी पाने के लिए किसी पद्धति के रूप मे जागरूकता का अभ्यास नही करना हे । ऐसा रुख तो निन्दापूर्ण ही माना जाएगा । इसके कारण मन मे तत्काल ही प्रतिरोध उठ खडा होगा । भाव यह है कि उस पदार्थ को केवल देखते रहना है जिसका नाम 'मन है । यदि हम तथ्यो का ठीक-ठीक मही ढग से निरीक्षण करने और उनकी खोज करने मे रुचि रखते है तो हम शीघ्र ही देखेगे कि मन के भीतर विचारो की गतिविधि और उनकी अनुक्रमणशीलता वस्तुत बडी धीमी हो चली है । यह निरीक्षण, यात्रिक रूप से

करना और मानस मे विचारा के उठने का क्रम देखते रहना ही पर्याप्त नही हैं । हमे प्रत्येक विचार पर यह दृष्टि भी रखनी हैं कि उसकी विषयवस्तु क्या है, उसका कारण क्या है उसका अर्थ क्या है ? इसका उद्देश्य यह हैं कि हम प्रत्येक विचार को पूण रूप से समझे । यदि पूरी तत्परता और पूरी रुचि के साथ ऐसा ध्यान-मनन-चिन्तन किया जाए तो हम शीघ्र ही देखेगे कि हमारा मन शान्त होता जा रहा है । वह शान्ति की स्थिति सहज और स्वाभाविक हैं तथा उसके किसी स्तर पर कहीं भी कोइ संघर्ष नही है । सम्भव है इस बीच कुछ स्मृतियॉ या विचार यान्त्रिक रूप मे सामने आएँ पर वे भी इस शान्ति मे कोइ हस्तक्षेप नही कर रहे हैं ।

इस शान्ति मे ही रहते हुए हम विभिन्न बाहरी वस्तुओ या तथ्यो की ओर देख सकते हैं अथवा मन स्वय अपनी ओर देख सकता हैं और शान्ति तथा स्थिरता के गुण की अनुभूति कर सकना है । इस स्थिति मे न तो कोइ द्रष्टा रहता न कोई दृश्य । केवल शान्ति की सरल जागरूकता रहती हैं ।

साधक को आरम्भ मे यह सलाह दी जा सकती है कि वह एक कुर्सी पर बैठे अथवा जमीन पर किसी सरल और सुखद आसन पर बैटे और मेरुदण्ड, गर्दन और सिर को सीधा रखे । यह आवश्यक नही कि सिद्धासन या पद्मासन मे ही बैठा जाए । इन आसनो का अपना एक निश्चित मनोवैज्ञानिक और शारीरिक लाभ हा सकता है, परन्तु लम्बी अवधि मे हम बाहरी सहायताओ पर जितना कम निर्भर रहे उतना ही अच्छा होगा । हम शरीर को स्थिर कर बैठे । ऑखे हम खुली भी रख सकते है बन्द भी कर सकते हैं—जैसा भी हो, सुविधाजनक लगे । हम थोडी देर गहरी तालमय सॉसे ले, जिससे तन और मन दोनो को शिथिल और तनावशून्य करने मे सहायता मिलेगी । हम जैसे ही अपनी ऑखे बन्द करेगे वैसे ही हम देखेगे कि मन इधर-उधर भटकना शुरू कर देता हैं । हम मन पर कोई जोर न डाले । प्रेम और सावधानी से हम केवल उसकी गतिविधियो को देखने रहे—मानो हम किसी फूल को देख रह हो । इस समय कुछ अप्रिय विचार भी उठ सकते है, पर हमे यह समझ रखना चाहिए कि यह हमारा मन हैं । यह जैसा भी है, है, और जब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप को न देख ले तब तक हम न तो मुक्त ही हो सकते है और न प्रसन्न ही हा सकते हैं । एक बार जहॉ हमने इस प्रकार देखना आरम्भ किया, वहा अचेतन मे दबे पडे हुए अनुभव अपने को उघाडना शुरू कर देगे । अत यह निरीक्षण केवल महान् शक्ति ही उत्पन्न नही करता, अपितु अचेतन मन

— मन को — हल करता है । इस प्रकार बिना किसी अवरोध और विकार के हम अपने को, अपने सारे चेतन और अचेतन — को भली-भाँति जान जाते हैं । यह एक वह यात्रा जिसका कि कितने ही बड़े मनोविश्लेषण से आरंभ नहीं की जा सकती । यह यात्रा अन्तहीन यात्रा है । ठीक वैसी ही जैसी कि सत्य की यात्रा अन्तहीन होती है । यह मन खुली रहती है । नित नूतन होती है और देशकाल — बन्धन से — रहती है । यदि — — इस स्थिति को खोज लिया जाए तो — आधुनिक जीवन की अनेक कष्टदायक खिझाऊ समस्याएँ सरलता से हल हो जाएँगी । ऐसे सावधान, शक्तिशाली और बुद्धिसम्पन्न मन के रहते कोई भी समस्या इतनी बड़ी या इतनी जटिल नहीं होगी, जिसका समाधान न निकाला जा सके ।

मानवीय विकास की प्रक्रिया के दौरान पशु जीवन के अनेक सवेग और पशुओं की हीन प्रवृत्तियाँ पृष्ठभूमि में धकेल दी गई थीं । उसी प्रकार जब निरन्तर बुद्धि से शासित खंडित मानव-मन योगयुक्त होगा तो बुद्धि को उसके उचित स्थान पर पहुँचा दिया जाएगा । इस अनुभूति के बाद — सत्य या वास्तविकता की प्राप्ति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग के मार्ग अत्यन्त अपर्याप्त प्रतीत होंगे । एक के बाद एक करके विभिन्न टुकड़ों को जोड़ने का प्रयत्न कभी भी एकीकरण नहीं ला सकेगा । इस प्रकार जिस जोड़ की अनुभूति होगी वह भी आंशिक और अधूरी ही होगी ।

आज के जटिल जगत् में बिना किसी मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के, बिना किसी घर्षण या संघर्ष के मनुष्य किस प्रकार सुखमय जीवन बिता सकता है, यह बात तब केवल कोरी कल्पना की बात न रहकर एक वास्तविकता बन जाएगी, जिसकी अनुभूति तत्क्षण, तत्काल की जा सकेगी । इस ध्यान (Meditation) के लिए दिन के किसी निश्चित समय पर उपयुक्त अनुशासन अथवा धर्म-कर्म विधि करने की आवश्यकता न होगी । इसमें केवल पूरे मनोयोग से प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण मात्र करना होगा । यह तो जीवन जीने का मार्ग होगा । इसके लिए यह कहा जा सकता है कि तीव्र बौद्धिक प्रक्रिया के कुछ क्षणों को छोड़कर सारा जीवन ही तब ध्यान बन जाएगा । उस प्रक्रिया के समाप्त होते ही मन फिर अपनी वास्तविक ध्यानस्थ स्थिति में लौट आएगा । अब फिलॉसफी (Philosophy)—तत्त्वज्ञान और दर्शन—इन दो शब्दों का सही अर्थ प्रकट होगा । 'फिलॉसफी' शब्द का सही अर्थ कोई

काल्पनिक पद्धति न होकर सत्य का प्रेम होगा । उसी प्रकार दर्शन जो कि म न फिलॉसफी का ही पर्याय माना जाता है और शाब्दिक रूप में जिसका देखना है, उसे ठीक उसी प्रकार समझा जा सकेगा जैसे कि समझना चाहि

जीवन एक गति है, एक अन्तहीन प्रक्रिया है । इस गति में जिसे हम 'ज कहते है, कभी-कभी ऐसे क्षण आ जाते है जब पूर्ण स्पष्टता होती है पूरी स दरी तथा शक और सन्देह का कहीं चिह्न भी नहीं रहता इस नवोदित ज्ञान प्रकाश को प्राप्त करने के क्षण-भर बाद ही हम यह महसूस करते है कि अभी जिसे सही मानते रहे वह गलत था जिसे ज्ञान माना वह अज्ञान था परन्तु हम जो जानते है केवल वही सत्य है इस पर न जब हम उसके सा समझने ह और अपने इस नवोदित ज्ञान मे स्थिर होने के प्रयत्न में लगते है, तब तक उ की लहर मैली आग लिए चलती है और हम फिर धाराहीन कुड मे पड है । यहॉ से भ्रम आरम्भ होता है इसी क्षण अज्ञान का बीज बो दिया जाता यदि आत्मतुष्टि के लिए मन इस भावना से हतबुद्धि हो जाता है कि मैं साक्षात पुरुष हूँ और यदि लोग हमारी पूजा-अर्चना करने लगते है और हम उ सदाशयी प्रशसको की भीड से घिर जाते है, तो यह निश्चित है कि हम एक भ्रमपूर्ण आत्मलुब्धता के भ्रष्ट जीवन में गिर जाएँगे । हमारा पतन हो जाएगा । नहीं है कि सत्य प्रेमपूर्ण और करुणामय नहीं है और वह हमारे पास दुबारा आएगा । परन्तु जब हम इतने महान् बन जाते है और नाम तथा प्रशसा की गद्दी पर बैठ जाते है तो इस सत्य के प्रवेश के लिए मार्ग ही कहॉ छोडते हैं शायद छोटे-छोटे छिद्रो से ही, धरती के स्तर से ही हमारे पास आ सकता है, सम्भावना ऐसी ही है कि हमे फिर उनके दर्शन नही हो पाएँगे ।

यह कहीं अच्छा होगा कि हम सत्य के सम्बन्ध मे कोई भाव न रख औ यह सोचे कि वह किन सूत्रो से आ सकता है । हम स्वय को इस कल्पना से न कि वह किसी परम ज्ञानी पण्डित अथवा गुरु से प्राप्त हो सकता है अथवा ि विशिष्ट धर्मग्रन्थ से मिल सकता है । यह भूतकालीन या वर्तमानकालीन ि अवतार या पैगम्बर से उपलब्ध हो सकता है । खतरा इस बात का है कि यदि ह जिज्ञासा और श्रद्धा बहुत तीव्र है तो हम सत्य के स्थान पर अपने भाव की अ करेंगे—सत्य की अनुभूति नही कर सकेंगे क्योकि सत्य कोई भाव नही है । अनुभूति सत्य से मिलती-जुलती प्रतीत हो सकती है परन्तु वह सत्य है नही-

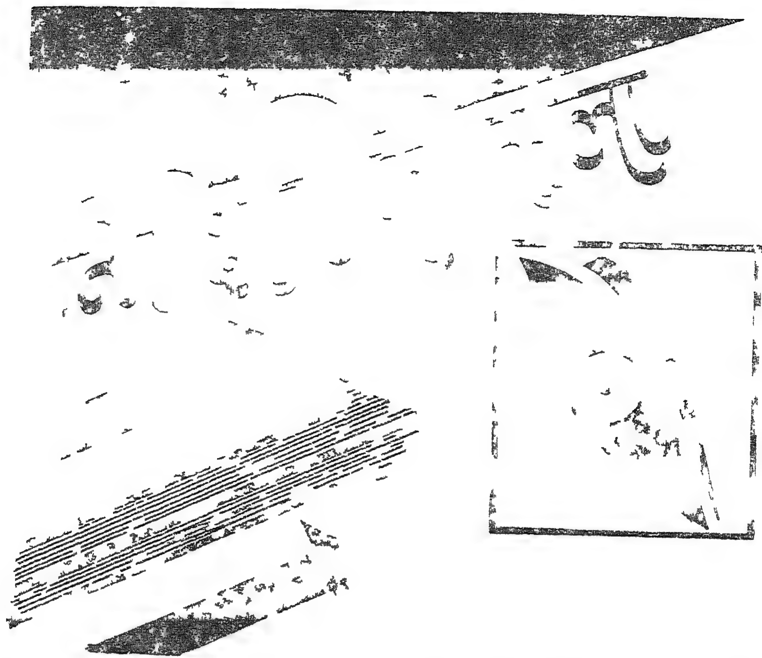
केवल अपना भाव विचार या प्रतीक मात्र देखते है । पहले वह भावनात्मक था, अब वह एक ठोस पदार्थ बन गया पहले से वह अधिक सतोषदायक बन गया । पहले मे अधिक उत्तेजक और प्रेरक बन गया । आज सारे विश्व की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ मे प्रतिदिन यह वैज्ञानिक तथ्य प्रकट हो रहा है कि एक प्रकार की शक्ति दूसरी प्रकार की शक्ति मे अथवा शक्ति ठोस द्रव्य (Matter) मे और ठोस द्रव्य शक्ति मे परिवर्तित हो रहा है । यदि यह प्रयोगशाला मानवीय मन ही है तो यह शक्ति-परिवर्तन के मूल वैज्ञानिक तथ्य को बदलता नही । यदि हम यह दिखा सके कि किसी मत्र के जप से विचार की एकाग्रता और तीव्रता से विशेष प्रकार के कुछ शब्दो को उत्पन्न करने से कुछ ठोस भौतिक परिणाम सामने आ सकते है तो हम यह प्रदर्शित करते हे कि विचार को ठोस द्रव्य मे रूपान्तरित किया जा सकता है । यह कोई नई बात नही है । हाल मे यह शोध हुआ कि स्मृति जो कि वस्तुत सगठित विचार ही है—प्रकृत्या रासायनिक है । यह ऐसा शोध है कि जिससे सारे ससार के प्राचीन अथवा आधुनिक तथाकथित आध्यात्मिक गुरुओ के उपदेशो के आधार पर खडे अनेक अधविश्वासो का पत्ता कट जाना चाहिए । उनका अन्त हो जाना चाहिए ।

जब किसी औषध, सुझाव, गुर या मत्र के जप से मन को सम्मोहित कर दिया जाता है तो अचेतन मन के गहरे स्तरो को खोज लेना सम्भव है और तब इन तथाकथित नए अनुभवो, शब्दो और दृश्यो से महान् उत्तेजन और सतोष प्राप्त किया जा सकता है । ये अनुभव नए जान पडते है क्योकि साधक को इनकी अनुभूति पहली बार होती है—यद्यपि बुद्धिमत्तापूर्ण निरीक्षण से देखा जाए तो यह पता लग सकता है कि ये सब पुरानी स्मृतियो के भण्डार से ही निकले हैं, फिर वे स्मृतियॉ चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक । यदि किसी नई वस्तु की अनुभूति प्राप्त करनी है तो मन को भूतकाल से सर्वथा मुक्त होना चाहिए और उसके लिए कोई भी पद्धति काम नही देगी । दूसरा सत्याभास, जो कि आध्यात्मिक जगत् मे बहुत प्रचलित हैं, वह यह कल्पना है कि हम जब किसी बिन्दु या विचार पर मन को एकाग्र करते हे तो वह क्रमश उत्तमतर, सूक्ष्मतर अशो मे विभाजित होते-होते पूर्णतया समाप्त हो जाता है । प्रसिद्ध तात्रिक विद्वान् कविराज गोपीनाथ ने गणितीय पद्धति द्वारा इस विचार का विकास किया है । अपनी इस पद्धति मे वे बताते है कि किसी वर्णमाला के एक अक्षर के उच्चारण के लिए जितने समय की आवश्यकता

होती है, वही मनोवैज्ञानिक समय की एक इकाई (Unit) है । अचेतन मन के विभिन्न स्तरो पर एकाग्रता द्वारा विचार की यह इकाई उत्तरोत्तर छोटे-छोटे ओर सूक्ष्मतर अशो मे विभाजित होती है । यह नवे स्तर पर टुकडे-टुकडे 592 टुकडो मे विभाजित हो जाती है । तब 1/512वॉ अश व्यावहारिक रूप मे शून्य जैसा हो जाता है । इस प्रकार यह मान लिया जाता है कि विचार समाप्त हो गया, उसका अन्त हो गया । इसमे सन्देह नही कि मन बहुत सूक्ष्म हो जाता है, विचार से लगभग मुक्त हो जाता है—द्रष्टा और दृश्य के पूण आत्मसात् हो जाने के कारण सघर्ष पूर्णत लुप्त हो जाता है । परन्तु मन की मूल प्रकृति पहले जैसी ही बनी रहती है ।

अनेक प्रकार की कल्पनाओ, मत्रो और सम्मोहनो का जीवन मे अलग-अलग स्थान है । उनके द्वारा रोगियो को रोगमुक्त किया जा सकता है । मन की अन्तर्ज्ञानीय और [illegible] क्षमताओ का विकास किया जा सकता है और सुविधाजनक भौतिक जगत् की रचना की जा सकती है । अस्तु वह केवल अपर्याप्त ही नही है, साथ ही अत्यन्त खतरनाक बन जाती है जब वह सीधे-सादे लोगो के मनोमाजन के काम मे लाई जाती है अथवा चरम सत्य या वास्तविकता की खोज क लिए उन्हे उसका साधन बनाया जाता है ।





निरीक्षण के तीन पहलू है । एक है निरीक्षक या द्रष्टा, दूसरा है निरीक्षण की वस्तु अर्थात् दृश्य और तीसरा है निरीक्षण की क्रिया । जब किसी वस्तु को देखते है तो प्रकाश की किरण उस वस्तु से होकर आँखो तक आती है और फिर वे दृष्टि की नसो से होकर दिमाग तक पहुँचती है । किसी वस्तु को देखने, उसे पहचानने और उसका नामकरण करने के बीच कुछ-न-कुछ समय अवश्य लगता है । फिर वह कितना ही कम क्यो न हो । इसके अतिरिक्त यदि हम सावधानी के साथ किसी वस्तु का निरीक्षण करते है तो उसके साथ-साथ और भी अनेक वस्तुएँ देखते है । मान लीजिए कि हम किसी व्यस्त सडक पर कार चला रहे है तो हम जानते है कि आसपास मनुष्यो की भीड है, अगल बगल मे दूसरी गाडियाँ है, सामने सडक है । परन्तु इन सब दूसरी वस्तुओ के विषय मे हम विचारपूर्वक सोचते नहीं । यो हम देखते है इन सब चीजो को पर हम उन पर न तो सोचते है, न उनका नाम ही लेते है । किसी वस्तु को पहचानने अथवा उसका नामकरण करने के पहले जो सबसे पहली स्थिति होती है वह स्थिति 'निर्विकल्प ज्ञान' की होती है । मुँह से वह न तो कहा जाता है और न उसमे कोई विचार रहता है । इस निर्विकल्प ज्ञान की स्थिति से आगे बढकर जब हम विचार, पहचान और नामकरण की स्थिति मे पहुँचते है तो

वह स्थिति 'सविकल्प ज्ञान की होती है । निरीक्षक जब निरीक्षण की वस्तु को पहचान लेता है तो वह उसका वर्गीकरण करता है, उसे कोई विशेषण देता है । वह यदि सुखद है और वाछनीय है तो वह उसे अपने मे मिला लेता है । वह यदि अप्रिय और अवाछनीय है तो वह उसे अलग कर देता है, दूर हटा देता है । अस्तु, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे तादात्म्य और पृथक्करण की ये प्रक्रियाएँ एक ही है । एक मे दूसरा प्रक्रिया अन्तर्निहित है । दो मे से किसी भी स्थिति मे निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु एकाकार नहीं हो पाते । इसलिए ऐसा निरीक्षण नहीं बन पाता । वह केवल विकार बनकर रह जाता है । द्रष्टा और दृश्य के बीच मे जो दूरी (Space) रहती है जिसमे आत्मप्रक्षेपण होता है, वह एक मनोवैज्ञानिक अन्तराल है ।

जब किसी पदार्थ के साथ हमारा घनिष्ठ सम्पर्क होता है तो हमे उसकी जानकारी होती है । जैसे, हम अपने हाथ मे कोई चम्मच या प्याला पकडते है तो हमे उसकी रचना, बनावट, उसकी घनता, उसके तापमान आदि का पता चलता है । जब वह वस्तु हमसे कुछ दूरी पर रख दी जाती है तो हम उसके गुणो के विषय मे सोच सकते है परन्तु उसका अनुभव नही कर पाते । यह मनोवैज्ञानिक दूरी जिसमे हम वास्तविक स्पर्श के स्थान पर उसका विचार करते है वह दूरी है जिसमे निरीक्षक निरीक्षण की वस्तु से अपने को हटा लेता है । किसी वस्तु के सर्वागीण निरीक्षण के लिए यह आवश्यक है कि उसकी मनोवैज्ञानिक दूरी समाप्त होनी चाहिए । इसी मे तो विचार अपना काम करता है । यह दूरी विचार छोडकर और कुछ नहीं है । विचार के समाप्त होते ही द्रष्टा और दृश्य के बीच घनिष्ठ सम्पर्क हो जाता है । द्रष्टा और दृश्य का मनोवैज्ञानिक एकीभाव ही सच्चा निरीक्षण है । निरीक्षण की ऐसी समग्र प्रक्रिया मे मनोवैज्ञानिक रूप मे कोई निरीक्षक नहीं रहता यद्यपि भौतिक रूप मे वह वहाँ बना रहता है । एक बार जहाँ निरीक्षक लापता हुआ कि निरीक्षित वस्तु का अलग मनोवैज्ञानिक अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है ।

जब यह मनोवैज्ञानिक दूरी बनी रहती है तो निरीक्षण तो नही होता होता है आत्म-प्रक्षेपण । इस दूरी मे निरीक्षक लगातार अपनी इच्छाओ, अनिच्छाओ और ज्ञान का प्रक्षेपण करता रहता है । इसलिए वह निरीक्षण की वस्तु को ठीक से देख नहीं पाता और इस बात को समझ नही पाता कि निरीक्षण की वस्तु वस्तुत क्या है । वह केवल अपनी इच्छाओ, अनिच्छाओ और ज्ञान का ही निरीक्षण करता रहता है । इसके अलावा जिस क्षण पहचान होकर नामकरण आरम्भ होता है उसी क्षण

आगे का निराक्षण समाप्त हो जाता है और तब निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु के बीच की दूरी फिर सामने आ जाती है ।

इसलिए किसी वस्तु का ठीक ढग से निरीक्षण करने के लिए, उसे समझ के लिए निरीक्षक को शात, मौन और निष्क्रिय बनना चाहिए । अर्थात् निरीक्षक क सेसर, उसका दोषान्वेषण समाप्त हो जाता हैं । निरीक्षक को शात साक्षी बनन सीखना होगा । उसे केवल बाहरी चीजो का ही साक्षी नही बनना होगा, भीतर हलचलो का भी । अपने विचारो का, अपनी पसदगियो और नापसदगियो का भ मौन साक्षी बनना सीखना होगा । निरीक्षक ज्यो-ज्यो इस प्रकार की निरीक्षण क गहराई मे उतरता है त्यो-त्यो वह अधिक शात बनता चला जाता है और आग चलकर लुप्त हो जाता हैं । तब केवल निरीक्षण की वस्तु ही बच रहती है ।

केवल निरीक्षक के कार्य से निरीक्षण की वस्तु पृथक् अस्तित्व के रूप मे रः जाती है । जब एक बार निरीक्षक लुप्त हो जाता है तब केवल शुद्ध निरीक्षण बाक रहता है । दूसरे शब्दो मे ऐसा कहा जा सकता है कि पृथक्-पृथक् अस्तित्वो के रू मे द्रष्टा और दृश्य का समाप्त हो जाना अथवा उनका मिलकर एक हो जाना शुद्ध और सरल निरीक्षण की ओर ले जाता है । निरीक्षण की प्रक्रिया मे द्रष्टा और दृश्य मिलकर एक हो जाते है । ऐसा होते ही मन का रूपान्तरण हो जाता है । वह सम्पन्न और पूर्ण बन जाता है ।

द्रष्टृदृश्योपरक्त चित्त सर्वार्थम् ।

—पातजल योग दशन 4/23

"द्रष्टा और दृश्य—इन दोनो से रँगा हुआ चित्त सब अर्थो वाला, सभ सम्पत्तियो वाला बन जाता है ।"

देखने की बात यह है कि ऐसा निरीक्षण ही सच्चा निरीक्षण है और जब द्रष्ट और दृश्य के बीच कोई व्यवधान, कोई दूरी या कोई अवकाश होने लगता है ते आत्म-प्रक्षेपण होने लगता है और सच्चा निरीक्षण विकृत हो जाता हैं । यह आत्म प्रक्षेपण अह की ओर विनाशक करतूत है । यह प्रेम और विवेक का नाश कर देत है । उसके साथ-साथ यह अनन्त सघर्ष और विरोध ले आता है । हम इस बात के जानते है कि अह ही हिसा, कष्ट और दु ख का मूल स्रोत होता है । इस अह वे निर्मूलन के लिए अनन्त काल से असख्य उपाय निकाले गए है पर इन प्रयत्नो से

अह भीतर और गहरा उतरता चला गया है । उनके चलते वह इनना सूक्ष्म हो गया हें कि ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है कि उसे पहचानना कठिन हो गया है । मनुष्य ने सोचा कि उसने अह की समस्याओ को हल कर लिया, पर वह उसका सामना करने से अपने आपको बचा नही सका । वह एक अन्य स्तर से सम्पन्न होता आ रहा है और उसे ठोकर मारता आ रहा है । परन्तु यदि मनुष्य निरीक्षण की इस कला को सीख सके तो अह की समस्या जड-मूल से हल की जा सकती है ।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावना विनिवृत्ति

—पातञ्जल योग दर्शन 4/25

(शुद्ध निरीक्षण की इस कला से) "जो विशेषदर्शी है विवेक द्वारा देखता है उसकी आत्मभाव विषयक भावना, अह की भावना सर्वथा जाती रहती है ।"

इसी जागरूकता के साथ जब यह सरल और शुद्ध निरीक्षण किया जाता है तो भ्रम और दु ख लुप्त हो जाते है । व्यक्तियो, वस्तुओ और भावो के साथ मानव के सम्बन्ध का यह सही ज्ञान ही नवीन चेतना का एकमात्र आधार है । यही सारी मानवता को प्रेम के एक सूत्र मे बाँधता है और दु ख, सघर्ष तथा पीडा का अन्त कर देता है । नए धर्म-सम्प्रदायो मे अथवा नई पद्धतियो मे यह नही मिलता । ये सम्प्रदाय तो मानवता को खण्डित करते चलते हैं जैसा कि भूतकाल मे वे सदैव करते आए हैं । कहना होगा कि निरीक्षण की इस कला को सीखने मे ही मुक्ति है । यह मुक्ति प्राप्त करना अधिकाश व्यक्तियो के लिए सम्भव है यदि वे अपने जीवन की समस्याओ को गम्भीरता से हल करना चाहते है ।

अब कुछ साहसी और शक्तिशाली व्यक्ति एक कदम आगे जा सकते हैं और वे दोनो जागरूकता और ज्ञान से ऊपर उठ सकते है । हाँ, इस बात को बौद्धिक रूप से नही समझा जा सकता, क्योकि ऐसी स्थिति की कल्पना भी भयभीत कर देने वाली है । जब जागरूकता और ज्ञान भी लुप्त हो जाते हैं तो मानव-मन का क्या होता है ? क्या वह मृत, निष्क्रिय या जड नही हो जाता ? क्या वह महाशून्य की स्थिति मे प्रवेश नही कर जाता जो कि मृत्यु मे भी भयकर मालूम होती है ? यदि कोई व्यक्ति कल्पनाजनित भय को दूर करके शातिपूर्वक देख सके तो वह सरलता से समझ सकता है कि जागरूकता की केवल तभी आवश्यकता पडती है जब मनुष्य किसी दु ख, कष्ट या पीडा मे पडा होता है अथवा जब मनुष्य किसी

शारीरिक या बौद्धिक क्रिया मे डूबा रहता है । जब कोई मनुष्य ऐसी किसी परिस्थिति मे नही रहता, तब जागरूकता की आवश्यकता ही क्या रहती है ? तब समझदारी क्यो नही छुट्टी लेकर विश्राम करने चली जाती है ? फिर रह ही क्या जाता है ?

प्रसख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा ।
विवेकख्याते धर्ममेघ समाधि ॥

—पातजल योग दर्शन 4/27

"जिस योगी का विवेक ज्ञान की महिमा मे भी वैराग्य हो जाता है उसका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसे धर्म मेघ समाधि प्राप्त हो जाती है ।"

अर्थात् जो व्यक्ति ज्ञान मे भी उदासीन रहता है, वह अनुभूति की स्थिति के भी परे—सर्वोच्च समाधि मे चला जाता है, जिसमे मनुष्य एक भारी मेघ की भॉति अपनी आन्तरिक प्रकृति (स्वभाव या धर्म) मे ही लिपट जाता है ।

जागरूकता से परे जाने का साहस ऐसी स्थिति मे पराकाष्ठा को प्राप्त होता है जो सुख-दु ख से, ज्ञान-अज्ञान से परे है और जिसमे जागरूकता केवल उन थोडे क्षणो मे काम करती है जब उसकी आवश्यकता पडती है । जैसे उस समय जब मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है । यह वह स्थिति है जो प्रकट रूप से नकारात्मक है फिर भी क्रियाशील शक्ति से ओतप्रोत है । सत्य की इस सर्वोच्च स्थिति मे सक्रिय और निष्क्रिय केवल एक-दूसरे मे विलीन ही नही हो जाते अपितु दोनो मिलकर एक हो जाते है ।

प्रश्न है कि मनुष्य इस स्थिति को किस प्रकार प्राप्त करे । सर्वोच्च सत्य के इस बिन्दु पर पहुॅचने के लिए हमे कौन-से अभ्यास, कौन-सी प्रक्रिया या कौन-सी साधना करनी होगी । इसका उत्तर खोजने के लिए क्यो न हम आध्यात्मिकता के पुराने इतिहास पर दृष्टिपात करे ?

हम सारव्य दर्शन को ले । इस दर्शन के अनुयायी इसके आरम्भ काल से ही तटस्थ और निष्क्रिय जागरूकता का अभ्यास करते आए है । इसके चलते द्रष्टा और दृश्य के बीच पूरी दरार पड गई । इस अभ्यास के कारण अप्रोत्साहनीय चार प्रकारो को खुल खेलने का अवसर मिला—जड, बालकवत्, उन्मत्त (पागल) और

पिशाच (असतुलित चित्तवृत्ति) । ये स्थितियाँ तब उत्पन्न हुई जब अह या निरीक्षक अभ्यास द्वारा इस प्रकृति से अलग हो गया और उसने नियत्रण करना बिल्कुल छोड दिया । मन को सघर्ष से तो मुक्त किया गया है परन्तु उसका रूपान्तरण नहीं किया जा सका । बुद्ध ने सम्भवत अपने साक्षात्कार के अन्तिम क्षण मे कारण और परिणाम के चक्र को तोड दिया हो, तब उन्हे वह आशीर्वाद और वह प्रकाश मिला हो जो सभी प्राणियो के प्रति करुणा से भरा हुआ है । परन्तु यह परिणाम, यह प्रकाश प्राप्त करने का कारण क्या था ? क्या वह कोई पद्धति या साधना थी जिसका कि बुद्ध कुछ समय से अभ्यास कर रहे थे अथवा क्या वह सभी पद्धतियो की व्यर्थता देखकर उनकी परिसमाप्ति थी ? क्या वह सारी आशाओ का परित्याग था ? शायद यह पूण पराजय का और आत्मसमर्पण का भाव था जिसकी चरम परिणति इस साक्षात्कार मे, इस प्रकाश मे हुई । क्या इसे और आगे ले जाया जा सकता था ? और बुद्ध के बाद उनके कितने शिष्य इस प्रकाश को प्राप्त करने मे समर्थ हो सके ? इस अत्यन्त रुचिकर प्रश्न पर हर्मन हैस ने अपने उपन्यास 'सिद्धार्थ' मे बडे सुन्दर ढग से प्रकाश डाला है ।

साख्य दर्शन की तरह बुद्ध अथवा उनके शिष्यो द्वारा प्रदर्शित मार्ग का परिणाम एक प्रकार की स्वतत्रता के रूप मे हुआ जिसमे एक प्रकार की सतत जागरूकता का अभ्यास रहता था । अस्तु वहाँ एक सूक्ष्म तनाव सदैव बना रहता था जो स्वत -स्फूर्ति स्वतत्रता और रचनात्मक वास्तविकता से किसी प्रकार सम्बद्ध नही था ।

जैन धर्म के सस्थापक भगवान् महावीर सहज मुक्ति पाने के लिए जगलो मे भटकते रहे । वे बारह बरस तक भटके परन्तु उन्हे यह मुक्ति नही मिल सकी । और एक दिन जब वे बुरी तरह थक गए और निराश हो गए थे तब एकदम अचानक यह सहज स्वतत्रता बिना बुलाए उनके पास पहुँची । यह प्रकाश, यह साक्षात्कार उन्हे उपलब्ध हो गया । इस साक्षात्कार के बाद प्रत्येक वस्तु का रूपान्तरण हो गया । हर चीज बदल गई । उनकी भाषा भी बदल गइ जो अब इने-गिने लोगो की ही समझ मे आने के योग्य थी । उनके प्रमुख शिष्य गौतम मुनि उन्हे समझ पाए, परन्तु उन्हे मुक्ति न मिल सकी, यद्यपि उनका गौतम मुनि का उपदेश सुनकर अनेक व्यक्ति मुक्त हो गए । गौतम मुनि को मुक्ति केवल तब मिली जब भगवान् महावीर का निर्माण हुआ अर्थात् उन्हे मुक्ति तब प्राप्त हुई जब उनको आसक्ति, उनकी

आशा, उनका लगाव और उनका आसरा जाता रहा ।

इसके बाद आते है अद्वैत दर्शन के सस्थापक आदि शकर । उन्होने 'तत्त्व-मसि और सोऽह' महावाक्यो पर ध्यान करने की शिक्षा दी । उसके फलस्वरूप सतत अभ्यास करके आत्म-सम्मोहन की स्थिति प्राप्त हुई । आधुनिक युग मे महान् सत रमण महर्षि ने अपने अनुयायियो को सलाह दी, 'सोऽह' अथवा अह ब्रह्मास्मि जैसे सूत्रो द्वारा अपने को सम्मोहित मत करो । उन्होने इस बात पर बल दिया कि सतत अपने-आपसे यह प्रश्न करते रहो कि 'कोऽह' "मै कौन हूँ ?" इस मार्ग द्वारा बडा व्यापक और गम्भीर परिणाम निकलना चाहिए था—उससे वस्तुत अह को तोडने मे बडी सहायता मिली—परन्तु उसमे एक सीमा, एक मर्यादा आ घुसी जो कि किसी भी साधना-पद्धति मे आ घुसती है । साक्षात्कार के प्रकाश का पहला आविर्भाव शायद स्वत -स्फूर्त होता है । परन्तु लगातार प्रश्न करते रह कर अद्वैत को सतत बनाए रखने की चेष्टा द्वारा बुद्धि को थका डाल्ने से उस स्थिति पर एक मर्यादा या सीमा आ जाती है । कुछ अभ्यास के बाद वह स्थिति सहज और स्वाभाविक प्रतीत हो सकती है पर अब वह सच्ची अन्त -स्फूर्ति नहीं रह जाती । उसी प्रकार किसी भी तथाकथित आध्यात्मिक स्थिति मे आत्मा के साथ तादात्म्य होने से मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा पर एक सीमा या मर्यादा आ जाती है ।

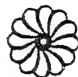
आज के युग मे श्री जे० कृष्णमूर्ति की आत्मज्ञान की दिशा मे बहुत बडी देन है । ध्यानपूर्वक उनके प्रवचन सुनने वाले अनेक व्यक्ति शाति की स्थिति मे पहुँच जाते है । परन्तु सामान्य मानव को, जो सकारात्मक समाधानो या निष्कर्षो के लिए अभ्यस्त रहते है, यह शाति उबाने वाली और व्यर्थ होनी है । यह शान्ति की स्थिति कई व्यक्तियो के लिए अध्यात्म प्रसाद हो सकती है और शायद यह एक नए क्षितिज की दिशा मे जाने के लिए सीढी का पत्थर हो सकती है । पर अनेक व्यक्ति निराश हो जाते है और लौट पडते है ।

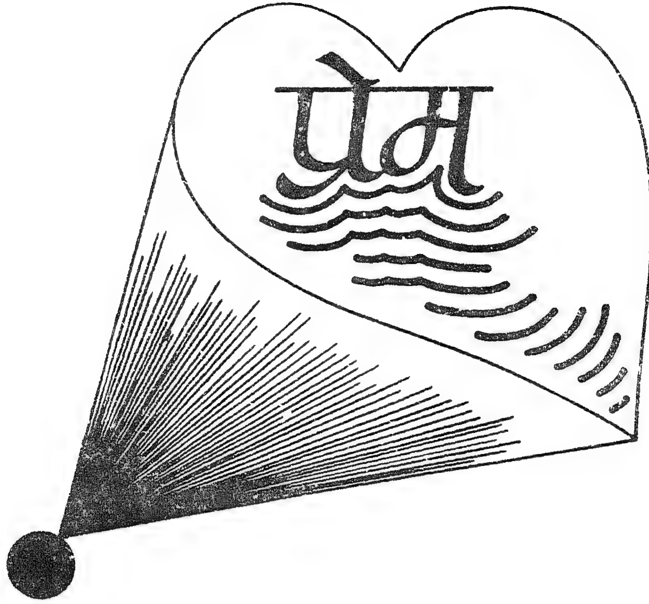
श्री जे० कृष्णमूर्ति के प्रवचनो का महत्त्व इस बान से ऑकना ठीक नही है कि कितने व्यक्ति उनकी बातो को ध्यानपूर्वक, आदरपूर्वक सुनते है अथवा कितने उनसे निराश हो जाते है बल्कि उनका महत्त्व इस बात से है कि उन्होने आत्मज्ञान से बृहद् प्रश्न के समाधान के लिए अत्यन्त स्फूर्तिदायक नया मार्ग प्रशस्त किया है, नया दिशा-दर्शन दिया है ।

अब हम अपने मूल प्रश्न की ओर लौटे, जहॉ से हम इधर-उधर भटक गए

थे निरीक्षण की इस कला को हम किस प्रकार सीखे । ध्यान (Meditation) मे ही इस प्रश्न की तत्परतापूर्ण और सच्ची खोज है । यह बडा कठिन प्रश्न है और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कोई भी व्यक्ति इसका सतोषजनक उत्तर नही दे सकता । इसका एकमात्र उपाय यह है कि हम सीखने की तीव्र अभिलाषा रखे और द्रष्टा तथा दृश्य के बीच प्रेम और स्नेह का सम्बन्ध स्थापित हो । इस प्रेम मे सभी बाते सम्भव है ।

साराश यह कि मोटे तौर पर प्रत्येक वस्तु की ओर देखने के दो प्रकार होते है । एक फूल को ही उदाहरण के रूप मे ले लीजिए । उसकी ओर देखने का एक प्रकार है एक वनस्पतिशास्त्री, एक बूढीगुणज्ञ की दृष्टि से, एक वैज्ञानिक दृष्टि से, उसके तकनीकी ज्ञान की दृष्टि से देखना । दूसरा प्रकार है किसी कवि या कलाकार की दृष्टि से देखना । पूरे ध्यान से, पूरी सावधानी से उसे देखना जिससे मानव-मन पर फूल की पूरी छवि, उसका पूरा प्रभाव पड सके । यह प्रभाव केवल तब पडता है, जब द्रष्टा फूल के साथ, दृश्य के साथ पूर्णत एकाकार हो जाता है । अत निरीक्षण की इस कला को सीखने के लिए हममे वैज्ञानिक की तत्परता, गम्भीरता होनी चाहिए और एक कवि तथा कलाकार की भाव-प्रवणता होनी चाहिए । फूल हो, कोई वृक्ष हो, कोई प्राकृतिक पदार्थ हो, उसके निरीक्षण द्वारा हम इस कला का शिक्षण आरम्भ कर सकते है । कारण, ऐसे पदार्थो से अत्यन्त तीव्र प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होती । मनुष्य ज्यो-ज्यो इस कला को सीखता चले, त्यो-त्यो उसे आगे बढकर ऐसी वस्तुओ और व्यक्तियो को देखना आरम्भ कर देना चाहिए जिनको देखकर रुचि और अरुचि की, पसदगी और नापसदगी की तीव्र भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती है । इस स्तर पर मनुष्य किसी पदार्थ को केवल बाहर ही नही देखता, उसे अपने भीतर भी अपने विकारो—क्रोध, घृणा, आसक्ति के साथ जोड करके भी देखता है । इस प्रकार के निरीक्षण मे, जब मनुष्य अपने क्रोध और घृणा जैसे विकारो के साथ एकाकार होकर निरीक्षण करता है तब वह अपने मूल स्वभाव के रूपान्तरण की परमोच्च कला को सीख लेता है और उसी के साथ-साथ वह बाहरी और भीतरी दोनो प्रकार के पर्यावरण से मुक्त हो जाता है ।





निरीक्षण की कला पर विचार करते हुए हमने देखा कि शात मन जब किसी वस्तु या व्यक्ति की ओर देखता है तो द्रष्टा और दृश्य के बीच की दूरी गायब हो जाती है । यह स्थिति जिसमे निरीक्षक का अह का कार्य सम्गप्त हो जाता है और वह निरीक्षित व्यक्ति के साथ मिलकर एक हो जाता है, प्रेभ की स्थिति है । किसी युवक ने भूतकाल मे किमी युवती की ओर, उसके चेहरे की ओर अनेक बार देखा हो, परन्तु कभी ऐसा क्षण आ जाता है जब उसकी ओर देखते ही पहली बार उसे पता चलना है कि उसमे अभिभूत करने वाला अतुलनीय सौदर्य है । तब उसके मन मे उस सौदर्य के लिए विस्मय और आदर का भाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है । तब उसे कोई भी वस्तु उस सौदर्य से बढकर प्रतीत नही होती । मन की पृष्ठभूमि के अनुसार यह स्थिति कुछ क्षणो तक अथवा उसमे कुछ अधिक देर तक टिक सकती है । उस समय कोई कामना अथवा महत्त्वाकाक्षा नही रहती, क्योकि वह सत्ता, वह अस्तित्व जिससे कामना उत्पन्न होती है, उस समय अनुपस्थित रहता है । उस समय स्वार्थ की, स्वामित्व की कोई भावना नहीं रहती । उस समय अपार समर्पण की ही भावना रहती है । बाद मे जब आसक्ति और स्वामित्व की भावना आती है तो प्रेम की वह पवित्र स्थिति दूर भग जाती है और केवल एक निष्प्राण

स्मृति रह जाती है जो अनन्त दु ख और पीडा का कारण बन सकती है । लोभ, लालच, महत्त्वाकाक्षा और हिसा से भरा हुआ मानव-मन प्रेम की अपनी इस स्थिति मे अधिक समय तक रहने मे असमर्थ रहता है । अस्तु वह इस बात मे समर्थ है कि इस अनुभव के इस केन्द्रीय स्तम्भ के चारो ओर भारी तत्त्वज्ञान और कविता का कृत्रिम तानाबाना रच दे जो बडा मायावी, क्षणिक और भ्रान्तिकर है ।

सौंदर्य की इस महान् भावना का स्रोत क्या है ? क्या उस प्रियतमा का चेहरा हो सकता है ? यह युवक-युवती के इस चेहरे को इससे पहले अनेक बार देख चुका है, पर उन मौको पर उसे कभी इस सौदर्य के दर्शन नही हुए । वह उस चेहरे से परिचित हो सकता है, वह इस युवती पर पत्नी के रूप मे स्वामित्व प्राप्त कर सकता है, परन्तु तब ऐसे सयोग आ सकते है कि कुछ ही दिनो मे वही चेहरा उसके लिए बिल्कुल आकर्षक न रह जाए । तब ऐसा समय आ सकता है जब अन्य चेहरे उसे अधिक सुन्दर दिखाई देने लगे । प्रश्न है कि ऐसा क्यो हो गया ? प्रेम की उस परमोच्च स्थिति मे वह सौदर्य अतुलनीय था, अन्य कोई चेहरा उससे बढकर सुन्दर नही था ? क्या इसका अर्थ यह है कि वह सौदर्य इस प्रियतमा मे था ही नही ? क्या वह सौदर्य प्रेमी की ऑखो मे था अथवा क्या वह प्रेमी और प्रेमिका दोनो से परे कोई अन्य उच्चतर पदार्थ था ?

यह सौदर्य वैयक्तिक है कि अवैयक्तिक ? क्या प्रियतमा का केवल चेहरा ही सुन्दर है ? क्या उस स्थिति मे सारे वृक्ष, सारे पुष्प, सारे नक्षत्र और तारे और चन्द्रमा भी सुन्दर नही लगते ? स्पष्ट है कि वह परमोच्च प्रेम या सौदर्य एक साथ ही वैयक्तिक भी है और अवैयक्तिक भी । उस समय मानवीय और दैवी, इन्द्रियातीत और सर्वव्यापी के बीच की विभाजन रेखा गायब हो जाती है ।

प्रश्न उठता है कि मानव-मन क्या इस प्रेम और सौदर्य की रचना कर सकता है ? अथवा यह कोई अन्त -स्फूर्त घटना है जो कभी-कभी अपना आशीर्वाद बरसाया करती है । इसकी एक क्षणिक झलक पाकर मानव-मन इसे पुनर्जीवित करने के लिए और इसकी पुनर्रचना करने के लिए अनेकानेक उपाय करता रहा है । मनुष्य महत्त्वाकाक्षा, आत्मत्याग या तादात्म्य के मार्गों द्वारा अपने सवेग को उच्चतम स्तर तक ले जाने की चेष्टा करता रहा है । भक्ति का मार्ग ऐसा ही एक मार्ग है । किसी भी मानसिक प्रक्रिया मे जैसा होता है, वैसे ही इसमे भी अनेक स्तर और श्रेणियाँ है । इसमे नीचे का स्तर अपराभक्ति है, जिसमे भक्त और उसके आराध्य अलग-

अलग रहते है । दोनो का अस्तित्व भिन्न-भिन्न रहता है । यह द्वैत का सम्बन्ध है । इसके सर्वोच्च स्तर मे पराभक्ति और आराध्य दोनो पूर्णत मिलकर एक हो जाते हे । हम कह सकते है कि दोनो इस स्थिति मे अपना-अपना पृथक् अस्तित्व खोकर एकाकार हो जाते है । पराभक्ति की यह स्थिति ऊपर वर्णित प्रेम और सौदर्य की अन्त -स्फूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है । उससे इसका सादृश्य तो है परन्तु यह वही नही है । दोनो स्थितियॉ एक नही है, क्योकि भक्ति की इस स्थिति मे अपवित्रता के रूप मे विचारशक्ति का कुछ-न-कुछ सम्मिश्रण बना ही रहता है ।

इसके अतिरिक्त इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि ऐसी अनन्य और एकाग्र भक्ति के लिए अत्यन्त सरल ओर निर्मल मन की आवश्यकता होती है । ऐसा निर्मल मन होना चाहिए जैसा कि तुलसीदास का था, सूरदास का था, मीराबाई का था । आज के जटिल बौद्धिक जगत् मे जब अविश्वास और अश्रद्धा का ही चारो ओर प्राबल्य है, तब ऐसा निर्मल मानस एक दुर्लभ वस्तु ही माना जाएगा ।

एक बात और । दैवी और मानवीय, आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम मे सदैव कुछ-न-कुछ विभेद रहता ही है । किसी मानव के भीतर दैवी भाव का दर्शन करना और दैवी भाव के प्रतीक के रूप मे उससे प्रेम करना एक बात है ओर प्रेम की ऐसी स्थिति मे होना जिसमे न दैवी भाव है न अदैवी—बिल्कुल दूसरी बात है ।

अत्यन्त सद्भाव और एकाग्रता के साथ, जैसा कि श्रीअरविन्द ने अपनी पुस्तक 'इण्टेग्रल योग' मे बताया है—यह सम्भव है कि मनुष्य दैवी प्रेम के सर्वोच्च शिखर पर पहुॅच जाए । यह मानव-मन के लिए महान् शक्ति और सौभाग्य की बात होगी । परन्तु कोई भी परिणाम जो मानवीय प्रयत्न पर निर्भर करता है—फिर वह कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो—वह देखने मे भले ही अन्त -स्फूर्त-सा जान पडे वस्तुत अन्त -स्फूर्त होता नहीं । परन्तु जो अन्त -स्फूर्त नही है, वह सच्चा प्रेम नही है । इस योग मे हम प्रत्ययात्मक सर्वोच्च दैवी प्रेम की अनुभूति करते हे जो वास्तविकता से, सत्य से मिलता-जुलता तो है पर सत्य या वास्तविकता है नही ।

अब हमारे सामने एक विषम समस्या आ खडी होती है । हमने अन्त -स्फूर्त प्रेम के रूप मे एक ऊपर उठाने वाली उदात्त घटना, वस्तुत रूपान्तरण कर देने वाली घटना देखी । हमने यह भी देखा कि मानवीय मन चाहे जो करे, चाहे जितना कठोर प्रयत्न करे, इस सुन्दर स्थिति को अपने वश मे करने की शक्ति और सामर्थ्य

उसमे नही है । प्रश्न उठता है कि ऐगी स्थिति मे हम क्या कर ? हम इतना ही कर सकते हैं कि हम यह महसूस कर कि हमारे जीवनो मे इस महान् —— सिद्धान्त को लाने की बडी आवश्यकता है । हम यह महसूस करना चाहिए कि हम इस रचनात्मक विधायक स्थिति पर पहुँचने के लिए कुछ भी करने मे असमथ है । हम केवल इतना ही कर सकते है कि अपनी विवशता के प्रति, अपनी लाचारी के प्रति आत्मसमर्पण करना सीखे और शात हो जाएँ । इस सहज शान्ति मे सम्भव ह हम पर वह परम शक्ति आशीर्वाद बरस पडे जिसे हम 'प्रेम' कहते हे ।

प्रेम की स्थिति ऐसी नही है जो मानवीय मन के लिए सर्वथा अपरिचित हो । विश्व मे बडी सख्या मे ऐसे लोग होगे जिन पर जीवन मे एकाधिक बार इस महान् रहस्यमयी शक्ति का आशीर्वाद बरसा हो । परन्तु जब वह समझा नही जा सका तो वह अविचल ज्योति या प्रकाश का स्वरूप धारण नही कर सका । वह निस्तेज हो गया, लुप्त हो गया । महत्त्व इस बात मे नही है कि हम इस शक्ति से भेट करके अथवा इसका स्पर्श मात्र करके सतुष्ट हो जाएँ । महत्त्व इस बात मे है कि हम गहरे ध्यान और चिन्तन के द्वारा मन को इस बात के लिए तैयार करे कि वह इस शक्ति को ग्रहण करे । वह सक्रिय-निष्क्रियता की स्थिति मे रह जिससे वह शक्ति बिना बाधा के टिक सके और ऐसी अविचल ज्योति या ज्वाला बने कि जीवन को पूर्णत रूपान्तरित कर डाले ।

इसलिए यह समझना आवश्यक है कि वे तथ्य कौन से हे जिनके कारण इस प्रकाश के आने मे बाधा पडती है । यह भी जानना आवश्यक है कि इस शक्ति को झुठलाए बिना अथवा इसे विकृत किए बिना कौन तथ्य इसके साथ-साथ निवास कर सकते हैं । मन को सरल और निर्मल होना चाहिए और वह यदि स्वभावतया, जन्मजात गुण के कारण ऐसा नही है तो अह की विनाशक कृतियो (नाम, ख्याति, सम्पत्ति) के सुखो के पीछे चलने वाली दौड को भली भाँति समझकर उसे मन को सरल बनाना आवश्यक है । केवल वही मन प्रेम करने मे समर्थ हो सकता है जो लोभ, लालच महत्त्वाकाक्षा और हिसा से शून्य हो । परन्तु इसके लिए मन को उसकी अभ्यस्त दौडो से रोककर बिल्कुल उल्टे रास्ते पर चलना होगा । केवल इतना ही करने से काम न चलेगा कि मन को बाहरी सम्पत्ति के पीछे दौडने की प्रवृत्ति से रोका जाए अपितु यह भी आवश्यक होगा कि वह स्मृति और सगठित अनुभवो की भीतरी सम्पत्ति के भण्डार से भी नमस्कार कर ले । उसे भी हाथ जोड दे । इसलिए

वह घमण्ड से दूर होकर पूर्ण नम्रता की स्थिति को पहुँच जाए ।

यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाना आवश्यक है कि प्रेम की इस स्थिति के साथ यौन-भाव और विवाह का सम्बन्ध कैसा, क्या हो । क्रम मे पडे हुए दो हृदयो के सम्बन्ध के रूप मे विवाह एक समझ मे आने वाली बात है । परन्तु एक धार्मिक संस्कार के रूप मे जिसके साथ कुछ सामाजिक नियम और दायित्व जुडे है--जिनमे अनेक बाते यो ही स्वीकार कर ली जाती है और जो आसक्ति और स्वामित्व के सिद्धान्तो पर खडा है—इस सहज स्थिति के भावना के सर्वथा प्रतिकूल है । यह स्वामित्व जिसके फलस्वरूप आसक्ति, ईर्ष्या और घृणा भी उसमे जुडी है, एक सुन्दर सम्बन्ध को निश्चय ही बिगाडकर रख देगा । परन्तु यदि दो व्यक्ति पूर्ण स्वतत्रता और पारस्परिक बोध के साथ एक साथ रहते है तो ऐसी स्थिति मे उनका पारस्परिक सम्बन्ध यौन-सम्बन्धो से अछूता रहे—यह आवश्यक नही । दोनो व्यक्तियो के बीच यौन-सम्बन्ध रह भी सकता है, नही भी रह सकता है । यहाँ जोर यौन-सम्बन्धो पर नही है, वह है प्रेम पर, समझदारी पर । प्रेम का सम्बन्ध केवल तब विकृत और नष्ट होता है जब यौन ही उसका सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन बैठता है ।

यदि यौन-भावना सामान्य हो, वह अत्यधिक उग्र तीव्र और हिंसात्मक न हो और अन्य सभी बातो की उपेक्षा करके केवल अपनी ही तृप्ति पर जोर न दे, तो यौन एक उपयुक्त और सामजस्यपूर्ण सम्मिलन बन सकता है । तब वह मिलन आध्यात्मिक मिलन की सर्वोच्च भौतिक अभिव्यक्ति बन सकता है । परन्तु यौन इतने ऊँचे स्तर तक उठ सके इसके लिए यह आवश्यक है कि वह प्रेम के पारस्परिक सम्बन्ध मे बँधे हुए दो व्यक्तियो के बीच सहज भाव से छलक उठे । ऐसी क्रिया का अनुगमन उत्तेजना या सुखोपभोग के रूप मे नही किया जा सकता है जिससे सामान्य मानव-मन अभ्यस्त है । क्योकि यह अनुगम तो हिंसा से भरा हुआ है । ऐसा समग्र यौन-सम्बन्ध तो हिंसा और सघर्ष से पूर्णत मुक्त हो, शक्ति के अपव्यय का कोई कारण नही बनेगा । ऐसे सम्बन्ध मे यौन की समस्या सदा के लिए हल हो जाएगी । उस स्थिति मे मनुष्य न तो एक बचाव के रूप मे यौन के पीछे दौडेगा और न अपनी यौन-लालसा पर विजय और नियत्रण प्राप्त करने का ही प्रयत्न करेगा । यौन को केवल तभी समझा जा सकेगा जब मनुष्य के हृदय मे प्रेम रहेगा ।

इधर हाल के दिनो मे विशेषत युवक-युवतियो मे यह माँग फैली है कि हमे स्वतत्र-स्वच्छद यौन और स्वतत्र-स्वच्छद प्रेम की छूट मिलना चाहिए । प्रेम मूलत

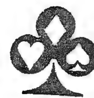
स्वतत्र ही हुआ करता है और स्वतत्रता के बिना प्रेम पनप भी नही सकता । पर स्वतत्र-स्वच्छद यौन का नारा अब से बोरियत से बचाव का एक नया बहाना बन गया है और वह अन्त मे निराशा और दु ख ही ला सकता है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यौन ऐसी मानवीय क्रिया है जिसमे पूर्ण आत्मोत्सर्ग और आत्मविलयन की सम्भावनाएँ है, फिर वे कितनो ही क्षणिक क्यो न हो । यह आत्मविलयन केवल तभी सभव है जब यौन-क्रिया उत्तेजना अथवा कामसुख की पुरानी स्मृति की खोज मे न होकर अत्यन्त शाति और मानसिक मौन की स्थिति मे रहकर सम्पन्न की जाती है । परन्तु अधिकाश लोगो के लिए जो यौन के पीछे कामसुख अथवा जीवन की ऊब से बचाव के लिए दौडते है, यौन का अनुभव अत्यन्त निराशामय होगा । कारण, सुखोपभोग के लिए बार-बार की दौड केवल निराशा और ऊब को ही लाया करती है । यदि हमारे पास साधन होते है तो हम अपने यौन-अनुभव मे नवीनता लाने के लिए यौन-क्रिया के नए-नए भागीदार खोज लेग । परन्तु कुछ समय के बाद नए भागीदारो की बार-बार की खोज भी हमे ऊब, निराशा और सघर्ष के सागर मे ही ले जाकर डुबो देगी ।

ऐसे अवसर कभी-कभी आ सकते है जब हम यौन-सम्बन्ध मे अह-शून्य स्थिति का अनुभव करे, पर उस क्षण स्थायी भावना से परम चैतन्य अथवा प्रेम की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती । इस स्थिति की प्राप्ति के लिए हम यौन की ओर मुड सकते है पर ऐसा करने मे इस बात की सम्भावना है कि हम यात्रिक पुनरावृत्ति की स्थिति मे पड जाएँ । हम यौन-क्रिया से दूर किसी बिन्दु पर अपने चित्त को एकाग्र करके विचारशक्ति का उपयोग कर सकते है—एकाग्रता के सुख को विकसित कर उसे यौन-सुख मे परिवतित कर सकते है परन्तु यौन-क्रिया उस स्थिति मे भी यात्रिक बनी रह सकती है । यौन और उसकी जटिलताओ को समझने के लिए एक सुख के स्थान पर दूसरा सुख लाकर खडा करने का उपाय कोई अच्छा उपाय नही है ।

हमारे सामने एक ही उपाय है और वह यह कि हम प्रेम की अथवा परम चेतना की उसी के लिए खोज करे और यदि एक बार इस प्रकाश का हमे स्पर्श हो जाए तो फिर उसी प्रकाश द्वारा यौन की अँधेरी घाटी को प्रकाशित किया जा सकता है और उसे समझा जा सकता है । उसके लिए केवल यही सम्भव दिशा है कि परम चैतन्य से यौन तक या प्रेम से योन तक पहुँचा जाए । यौन से परम चैतन्य अथवा प्रेम की ओर जाने का कोई रास्ता नही है । प्रेम के विकास के लिए

आत्मतुष्टि और बचाव के रूप मे यौन का उपयोग समाप्त हो जाना आवश्यक हे । प्रेम सम्पूर्ण है, समग्र है और यौन इसका एक अश मात्र है । प्रेम मे यौन रह सकता है परन्तु जब यौन के पीछे पडा जाता है तो उसमे प्रेम रह ही नहीं सकता ।

ध्यान-मनन-चिन्तन की समाप्ति से प्रेम का श्रीगणेश होना है । प्रेम का प्रारम्भ ध्यान का अन्त है । जब हमारे हृदयो मे प्रेम होता है तो बुद्धि मौन हो जाती है और फिर वह ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि के सम्बन्ध मे कोई जिज्ञासा नही करती । ऐसे प्रश्न विसगत, बेतुके लगते है । केवल दुखी चित्त ही अनेक खेल, निस्सार प्रश्न किया करता है । यदि हम प्रेम की स्थिति मे होते है नो ध्यान-मनन-चिन्तन (Meditation) एक भार बन जाता है । प्रश्न भी भार बन जाते हैं—उस सहज स्थिति मे केवल इसी बात की आवश्यकता रहती है कि हम मौन हो जाएँ, शात हो जाएँ । यदि हम यह सीख ले कि हमे प्राणमूलक मन की कामनाओ और बुद्धि की यात्रिक लालसाओ के अनुसार नही चलना है, उसके बजाय यदि हम ऐसे ढग से रहे कि किसी वस्तु के लिए हम कोई योजना नहीं बनाते—वह अपने-आप बनती जाती है—और हम अपनी बुद्धि के प्रयत्न द्वारा ऐसा कुछ नहीं करते, तो सच्चा रूपान्तरण हो जाएगा । यह रूपान्तरण पहले तो मन के भीतर होता है फिर धीरे-धीरे शरीर पर उसका प्रतिबिम्ब पडता है । हम स्वय कोई चमत्कार नही करते, पर हमारे जीवनो मे चमत्कार स्वय ही घटित होने लगते है ।



श्रवण की कला



पॉच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा बाहरी जगत् से हमारा सम्पर्क होता है । इन पॉच मे सबसे महत्त्व की दो इन्द्रियॉ है—एक है देखने की, दूसरी है सुनने की । फिर क्रमानुसार कम महत्त्व की इन्द्रियॉ है—स्वाद की, स्पर्श की और सूँघने की । हम देख चुके है कि निरीक्षण मे विकार कैसे आ जाता है और उसे किस प्रकार सुधारा जा सकता है । अब हमे उन तथ्यो का, उन कारको का सावधानी से परीक्षण करना है जिनसे सुनने मे दोष आते है ।

हम जिस क्षण कोई शब्द सुनते है उसे समझने के लिए हम उसका विवेचन, उसकी व्याख्या करते है और किसी पर्याय मे उसका अनुवाद करते है । मकान, रेलवे स्टेशन अथवा ट्रेन जैसे भौतिक जगत् के शब्द कोई बडी समस्या खडी नही करते । पर यह स्थिति उस समय बिल्कुल बदल जाती है, जब हम राष्ट्र, पत्नी, प्रतिष्ठा, ईश्वर आत्मा या प्रेम जैसे मनोवैज्ञानिक व्यजना वाले शब्द सुनते है । हम भिन्न प्रकार से उन शब्दो पर अपनी प्रतिक्रिया दिखाते है । अधिकाश मामलो मे जब मै और मेरा किसी शब्द से जुड जाता है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भी इन शब्दो से सम्बन्ध आता है तो स्थिति कठिन और जटिल बन जाती है । मानव-मन तुरत अपना समत्व खो बैठता है और या तो विरोध करता है या समर्थन करता है

ओर मनोवैज्ञानिक सुख-दु ख उसके साथ जुड जाते है । यह बाधा हमारे श्रवण काय को विकृत कर देती है । स्मृति की छिछली प्रतिक्रियाएँ सामने आ जाती है और वे किसी शब्द को मानव-मन की गहराई मे उतरने से रोक देती है । यह प्रतिरोध प्रतिक्रियाओ की एक शृखला खडी कर देता है और अन्त मे वह शाति और स्वतत्रता को नष्ट कर देता है ।

हममे से सभी लोग ऐसा व्याख्यान सुनना पसन्द करते है जो रुचिकर, प्रेरक और मनोरजक हो । ऐसा व्याख्यान हमारे लिए क्या करता है ? जब वह हमारे विश्वासो के अनुकूल होता है तब वह हमारी प्रतिबद्धता की जेल की दीवार को और अधिक मजबूत ही बनाता है । जब हम कोई ऐसा व्याख्यान सुनते है जो किसी ग्रथ के विषय मे हो अथवा किन्ही अन्य व्यक्तियो के सम्बन्ध मे हो तब हम अपनी मर्जी या नामर्जी, खुशी या नाखुशी के अनुसार या तो उसका समर्थन करते है या उससे अपने-आपको अलग कर लेते है । हम आसानी से ऐसे ग्रथो या पुरुषो का समर्थन अथवा उनका विरोध कर सकते है अथवा कोई नई बात सीखने पर बडा सतोष व्यक्त कर सकते है ।

पर हमने सीखा क्या ? हमने अपनी प्रतिबद्धता के आधार पर फिर एक बार अपने कुछ निष्कर्ष निकाल लिए ।

जो व्याख्यान हमारी प्रतिबद्धता से मेल नही खाता वह हमारे लिए अरुचिकर बन जाता है और हम उसके विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया प्रकट करते है । पर सम्भवत यही वह व्याख्यान है जो हमारे भीतर छिपी हुई भाव ग्रथियो को हमारी पाशविक वासनाओ को और हमारे मानस की सारी कुरूपता को, हमारी सारी मानसिक विकृति को एकदम नगा करके हमारे सामने उपस्थित कर देता है । हम यदि शातिपूर्ण और मौन चित्त से, सौम्य भाव मे, किसी प्रकार से उसका अर्थ, भावार्थ निकाले बिना, उसे कोई विशेषण दिए बिना सुने और अपने मन के छिछले स्तरो से प्रतिक्रियाएँ व्यक्त किए बिना सुने तो मानव-मन मे एक भारी रूपान्तरण लाया जा सकता है । पर क्या यह सम्भव है कि हम इस प्रकार कोई व्याख्यान सुने ?

मै मानता हूँ कि यदि ऐसे व्याख्यानो के गहरे महत्त्व को अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझ लिया जाए तो मनुष्य बडी सरलता से यह सीख सकता है कि छिछली प्रतिक्रियाओ से प्रभावित न हो या उन्हे प्रवेश न दे । ज्यो-ज्यो प्रत्येक शब्द को

शाति और सतोष के साथ सुना जाता है, त्यो-त्यो प्रत्येक शब्द गहरे से गहरे मे उतरता जाता है । उसकी जो प्रतिक्रिया हो उस पर दृष्टि रखी जाए । उसे महसूस किया जाए और पूरे तौर से उसे आत्मसात् कर लिया जाए । यदि ऐसा किया जाता है तो मन का पूर्णरूपेण रूपान्तरण हो जाएगा ।

प्राय ऐसा कहा जाता है कि हमे शब्दो को उनकी व्याख्या किए बिना, उनका अर्थ या अनुवाद किए बिना सुनना चाहिए । इस पर यह पूछा जा सकता है कि क्या ऐसा करना सम्भव भी है ? जब हम किसी शब्द को सुनते है तो वह स्वत ही कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है । हम अपने पूरे अस्तित्व से उस पर दृष्टि रखे और बिना किसी प्रयत्न के अत्यन्त सन्तोषपूर्वक इस प्रतिक्रिया को महसूस करे और स्वत होने वाली इस प्रतिक्रिया की दूसरे शब्दो या प्रतीको मे कोई व्याख्या न करे । ऐसी व्याख्या, ऐसा अर्थ हमे बहुत ही छिछले स्तर पर रख देता है और यद्यपि हम यह सोचते है कि हम इस शब्द को समझ गए है, पर वस्तुस्थिति यह होती है कि हमारी सारी समझदारी नष्ट हो जाती है ।

वास्तविक श्रवण मे एक प्रत्यक्ष ज्ञान, चैतन्य बोध का अवगम होता है । उसमे न तो हमारे अपने सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब कोई हस्तक्षेप करता है और न वक्ता का कोई प्रतिबिम्ब हस्तक्षेप करता है । यदि हम इस प्रकार पूर्णरूपेण दत्तचित्त होकर सुन सके और जो कुछ सुने उसके सघात को, उसके आशय को ठीक से आत्मसात् कर सके तो सारे प्रतिबिम्ब, सारी प्रतिबद्धताऍं चूर-चूर हो जाऍंगी । तब मन मे एक नई शक्ति आ जाएगी । उसका कायाकल्प हो जाएगा । तब वह सीखने के लिए और एक शाश्वत जीवन जीने के लिए निर्मल और चुस्त बन जाएगा । पूरे ध्यान और मनोयोग से सुनना और सीख लेना महानतम ऐसा अनुशासन या तपस्या है जो मानव-मन के सामर्थ्य मे आता है । उसका पुरस्कार भी बहुत भारी है जो वर्णनातीत है । ऐसा प्राय कहा जाता है कि परमोच्च सत्य या वास्तविकता व्याख्यान या भाषण द्वारा व्यक्त नही की जा सकती, परन्तु यदि कोई श्रवण की, सुनने की कला सीख ले तो वह देखेगा कि ईश्वर अथवा परम पूर्ण, परम शुद्ध वास्तविकता ब्रह्माण्ड के प्रत्येक केन्द्र से अथवा कण-कण से अपने को अभिव्यक्त कर रही है । तब इस बात की कोई आवश्यकता नही रह जाती कि मनुष्य किसी महान् गुरु या शिक्षक के पास जाए । उसे ग्रथो मे सगीत और पाषाणो मे प्रवचन सुनाई पडेगे ।

दीर्घकालीन ध्यानस्थ स्थिति से, जप से, एकाग्रता से अथवा किसी मत्र को गुनगुनाने से एक सम्मोह तन्मयता आ सकती है और मन मे बडी विमुक्ति की, छुटकारे की भावना भरी जा सकती है, परन्तु इन सब साधनो के द्वारा सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकना सदैव एक स्वप्न ही बना रहेगा । निरीक्षण और श्रवण की इन दोनो कलाओ से एक अत्यन्त प्रचण्ड बोधशक्ति आ जाएगी जो केवल आत्मा की ही नहीं होगी, अपितु सारे विश्व की होगी ।



भौतिक और मनोवैज्ञानिक काल

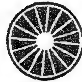


जीवन दिक् और काल, दिक्काल दो पहियो पर घूमता है । जब हम पिछले पृष्ठो मे निरीक्षण की कला का अध्ययन कर रहे थे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से मनोवैज्ञानिक अन्तराल का ही अर्थ समझने का प्रयत्न कर रहे थे । जीवन को समझने के लिए मनुष्य को इन दोनो शब्दो के अर्थ और महत्त्व को समझ लेना पडेगा ।

भौतिक दिक् और काल मनुष्य के लिए कोई बडी समस्या नहीं खडी करते । वह दिक्काल पर अपना प्रभुत्व जमाने के मार्ग पर चल पडता है और इस मामले मे वह बडी तीव्र गति से आगे बढता है । अस्तु भौतिक दिक्काल के अतिरिक्त मनुष्य सदैव मनोवैज्ञानिक दिक्काल की रचना करता चलता है । वह अपने-आपको इस मनोवैज्ञानिक दिक्काल का बन्दी बना लेता है और अपनी स्वतत्रता समाप्त कर लेता है ।

भौतिक काल तिथि-क्रमानुसार चलता है । उसमे घटनाएँ एक क्रम से घटती चलती है । दिन के बाद रात आती है, रात के बाद दिन । रवि के बाद सोम और सोम के बाद भौम । एक निश्चित व्यवस्थित क्रम मे आता है । पर जब हम मनोवैज्ञानिक काल की ओर जाते है जो कि स्मृति पर आधृत माना जाता है तब क्या हम एक व्यवस्थित क्रम मे—आज के बाद कल और कल के बाद परसो के क्रम मे—

दीर्घकालीन ध्यानस्थ स्थिति से, जप से, एकाग्रता से अथवा किसी मत्र को गुनगुनाने से एक सम्मोह तन्मयता आ सकती है और मन मे बडी विमुक्ति की, छुटकारे की भावना भरी जा सकती है, परन्तु इन सब साधनो के द्वारा सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकना सदैव एक स्वप्न ही बना रहेगा। निरीक्षण और श्रवण की इन दोनो कलाओ से एक अत्यन्त प्रचण्ड बोधशक्ति आ जाएगी जो केवल आत्मा की ही नहीं होगी, अपितु सारे विश्व की होगी।



भौतिक और मनोवैज्ञानिक काल



जीवन दिक् और काल, दिक्काल दो पहियो पर घूमता है। जब हम पिछले पृष्ठो ने निरीक्षण की कला का अध्ययन कर रहे थे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से मनोवैज्ञानिक अन्तराल का ही अर्थ समझने का प्रयल कर रहे थे। जीवन को समझने के लिए मनुष्य को इन दोनो शब्दो के अर्थ और महत्त्व को समझ लेना पडेगा।

भौतिक दिक् और काल मनुष्य के लिए कोई बडी समस्या नही खडी करते। वह दिक्काल पर अपना प्रभुत्व जमाने के मार्ग पर चल पडता है और इस मामले मे वह बडी तीव्र गति से आगे बढता है। अस्तु भौतिक दिक्काल के अतिरिक्त मनुष्य सदैव मनोवैज्ञानिक दिक्काल की रचना करता चलता है। वह अपने-आपको इस मनोवैज्ञानिक दिक्काल का बन्दी बना लेता है और अपनी स्वतत्रता समाप्त कर लेता है।

भौतिक काल तिथि-क्रमानुसार चलता है। उसमे घटनाऍ एक क्रम से घटती चलती हैं। दिन के बाद गत आती हे, रात के बाद दिन। रवि के बाद सोम और सोम के बाद भौम। एक निश्चित व्यवस्थित क्रम मे आता हे। पर जब हम मनोवैज्ञानिक काल की ओर जाते है जो कि स्मृति पर आधृत माना जाता है तब क्या हम एक व्यवस्थित क्रम मे—आज के बाद कल और कल के बाद परसो के क्रम मे—

विचार करते है ? क्या ऐसा नही होता कि अभी हम आगे की बात सोच रहे है और पल-भर बाद ही पीछे की बात सोचने लगते है । भौतिक काल मे तो हम केवल आगे ही जा सकते है, पीछे की ओर नहीं जा सकते । जो बीत गया सो बीत गया । भूतकाल समाप्त हो गया । पर मनोवैज्ञानिक काल के साथ ऐसी बात नहीं है । मनोवैज्ञानिक काल मुख्यत भूतकाल ही है, क्योकि वह स्मृति और विचार ही पर आधृत है । इस भूतकाल का कभी अन्त नही होता । यह कभी नही मरता—मनोवैज्ञानिक काल भूतकाल को सतत पुनरुज्जीवित करता रहता है । उसमे सतत गति बनी रहती है । वह बडी तीव्र गति से वर्तमान से भविष्य मे दौड जाता है और भविष्य से भूतकाल मे । मनोवैज्ञानिक काल की यह अव्यवस्थित गतिविधि—सघर्ष, दु ख और कष्ट का स्रोत बनती है । ध्यान का लक्ष्य मनोवैज्ञानिक काल और अन्तराल से मुक्त होना ही है । हम वस्तुत कह सकते है कि दिक्काल का यह ज्ञान ही ध्यान है ।

हम देख चुके है कि निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु के बीच जो दूरी होती है वही वह क्षेत्र है जिसमे आत्म-प्रक्षेपण और अह दोनो ही बढते-पनपते है । सच्चे निरीक्षण मे निरीक्षक और निरीक्षित वस्तु, द्रष्टा और दृश्य दोनो मिलकर एक हो जाते है, तभी इस दूरी की, इस अन्तराल की समाप्ति होती है । इसकी समाप्ति पर ही तो बोधशक्ति, स्वतत्रता तथा प्रेम का श्रीगणेश होता है ।

उसी प्रकार यदि हम काल की ओर दृष्टिपात करे तो हम पाएँगे कि हम निवास तो करते है वर्तमान मे, परन्तु हम सोचा करते है या तो भूतकाल मे या भविष्य काल मे, क्योकि वर्तमान काल मे तो कोई विचार रहता ही नहीं । भविष्य काल का हमारा विचार भूतकाल के हमारे अनुभवो पर आधृत रहता है अत वह सशोधित भूतकाल ही है । यदि हमारा भूतकाल न होता तो फिर भविष्यत्काल के बारे मे कोई विचार ही न किया जाता । विचार भूतकाल से वर्तमान काल मे आता है और वर्तमान काल से भविष्यत्काल मे चला जाता है जैसे कि घडी का पैण्डुलम इधर से उधर घूमा करता है । वर्तमान काल मे वह एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरता । सीधे-सादे शब्दो मे कहे तो इसका अर्थ यह है कि विचार, जो भूतकाल या भविष्यत्काल का ही होता है, वास्तविक अस्तित्व से पृथक् होता है, क्योकि वास्तविक अस्तित्व केवल वर्तमान काल मे है । हम सौ वर्ष तक जीवित रह सकते है परन्तु हमारा वास्तविक जीवन—हमारा वास्तविक अस्तित्व, जिसकी अनुभूति हमे किसी भी क्षण होती रहती है—वह तो वर्तमान काल ही है । हम आगामी कल की

बात सोच सकते है पर जब वह आगामी कल आता है तो उसकी अनुभूति आगामी कल के रूप मे न होकर वर्तमान आज के रूप मे होती है । जीवन तो वस्तुत केवल आज है, बीता हुआ कल और आगे आने वाला कल तो केवल विचार है और कल्पना मात्र है ।

अत जीवन को ठीक से समझने के लिए और उसका आनन्द प्राप्त करने के लिए, उसका निरीक्षण करने के लिए, उसे देखने-समझन के लिए हमे अपना सारा ध्यान आज पर सामने उपस्थित क्षण पर लगाना पडेगा । आधुनिक युग मे हम इस बात की बडी चर्चा करते है कि हमे वर्तमान मे ही जीना चाहिए । परन्तु क्षण पर क्षण जीवित रहने के लिए ऐसे शीघ्रगामी शात मन की आवश्यकता है जो लोभ, लालच और महत्त्वाकाक्षा से मुक्त हो । साथ ही वह समृद्ध हो और शक्ति से ओतप्रोत हो । ऐसा मन गहन गम्भीर अथाह ध्यान का ही परिणाम हो सकता है । यदि हम नाम, ख्याति, धन-सम्पत्ति अथवा सत्ता या शक्ति के पीछ दौड रहे है तो हमारे पास जीवन का निरीक्षण, प्रेक्षण, अवलोकन का अवकाश ही कहाँ है ? जीवन की समृद्धि मे, उसकी गहराई मे उतरने का अवसर ही कहाँ है ? और जब तक हम जीवन पर दृष्टिपात न करे तब तक हम सदैव बाहरी सम्पत्ति और सत्ता के पीछे ही दौडते रहेगे । उस दिशा म हम जो भी कदम उठाएँगे वह हमारे जीवन को अधिकाधिक दरिद्र ही बनाता चलेगा । यदि हम जीवन पर सरसरी दृष्टि डाले तो हमे ऐसा लगेगा कि उसमे भारी खोखलापन, ऊब और बोरियत भरी पडी है । हम इस खोखलेपन को, छिछले इन्द्रियजनित सुखोपभोग अथवा बाहरी ऐश्वर्य से भरने की कोशिश करते है, फिर भी यह अत्यन्त गहरा, खाली का खाली बना रहता है । यदि हम इस ऊब से, इस शून्य से परे जाना चाहते हैं तो हम इस पर दृष्टिपात करे, पूरे तौर से इसे महसूस करे और इससे दूर न भागे । जब यह शून्य दृश्य बन जाता है और द्रष्टा या 'मै' दृश्य के साथ पूर्णत एकाकार हो जाता है, तब उस स्थिति मे शून्य का रूपान्तरण हो जाता है जिससे जीवन की समृद्धि और गहराई स्पष्टत सामने आ जाती है । उस शक्ति और चैतन्य से हम क्षण-प्रतिक्षण का जीवन जी सकते है और वर्तमान काल मे जीवित रह सकते है । क्या इसमे से ऐसी ध्वनि निकलती है कि हम विचार करना सर्वथा बन्द कर देगे और हमारे मन मे कोई विचार चक्कर नही लगाएगा ? सम्भवत ऐसे कुछ विचार आएँगे जो भौतिक अस्तित्व के लिए आवश्यक है । आगामी कल के लिए हमे कुछ पैसे, भोजन और वस्त्र

निकालकर एक ओर रख देने पडेगे पर इन अनिवार्य आवश्यक्ताओ को छोडकर हम अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए अथवा अपने को समृद्ध बनाने के लिए धन, सम्पत्ति, सत्ता या प्रशसा के पीछे नहीं दौडेगे ।

इस सादगी की ओर, इस विवेक और समझदारी की ओर बढने के लिए हमे मनोवैज्ञानिक काल बार-बार उसके विविध रूपो के साथ समझ लेना पडेगा—जैसे, भूतकाल से भविष्यत्काल तक उठने वाला विचार, भविष्यत्काल—जिसमे हम मानते है कि हमे सुरक्षा और प्रसन्नता प्राप्त होगी, भूतकाल जिसमे कुछ बडी मीठी और सुन्दर अनुभूतियाँ हमे प्राप्त हुई थीं, मृत्यु जो निकट भविष्य मे देर-सबेर हमे प्राप्त होगी आदि । यह विचार-प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक काल मे ही होती है । भौतिक काल मे, जो कि वर्तमान है, उसमे नहीं होती । यदि हम काल पर अपना ध्यान एकाग्र करे तो हम सरलता से यह देख सकते है कि काल की सबसे छोटी इकाई 'क्षण है । क्षण के बाद क्षण आता है । यह क्रम अनवरत रूप से शाश्वत जुलूस के रूप मे सतत चलता रहता है । अपना जीवन और अस्तित्व तो हम प्रत्यक्ष महसूस करते है, उसका आनन्द लेते है । उसका अर्थ और महत्त्व काल की सबसे छोटी इकाई क्षण-भर के लिए ही है, और हम यदि एक क्षण का महत्त्व समझ सके तो हम देखेगे कि इस क्षण के गर्भ मे अनन्त काल, शाश्वत काल छिपा हुआ है । उसी मे जीवन का, मृत्यु का, सुख का, दु ख का सारा रहस्य छिपा हुआ है । किसी निश्चित क्षण मे न विचार है, न भय है, न मृत्यु है । न उसमे आनन्द है, न उसमे कष्ट है और न उसमे कोई अनुभव है । मन स्थिर है, शान्त है, हर प्रकार के विचार से वह मुक्त है । अस्तित्व और विचार मिलकर पूर्ण बनते है । मन और जीवन के जोड मे न कोई दरार है, न कोई अन्तराल । इस कारण उसमे काल भी नही है । एक क्षण मे काल का अस्तित्व भी देखते है, उसका अभाव भी देखते है । एक क्षण शाश्वत भी है और शाश्वत से परे भी है । जो व्यक्ति एक क्षण को समझ लेता है वह सब कुछ समझ लेता है ।

जो व्यक्ति इन पक्तियो पर पूरा ध्यान न देगा वह ऐसा मान सकता है कि ये शब्द कवि की कोरी कल्पना है । परन्तु यदि हम अपनी ओर दृष्टि डालेगे तो हम इन बातो मे निहित सत्य को समझ लेगे । हम एक क्षण के ऊपर विचार करे । काल की इस छोटी इकाई मे क्या हम किसी बात पर विचार कर सकते है ? किसी भी विचार मे एक क्षण से अधिक ही समय लगेगा । इस क्षण मे हम पूरे मनोयोग से

अपने बाहर—आसपास की वस्तुओ को देखे और अपने भीतर भी देखे कि क्या काल के इस छोटे अश मे किसी विचार या भाव को ग्रहण कर सकते है ? अब यह क्षण समाप्त हो रहा है । अगले क्षण हम फिर यही सारी प्रक्रिया दोहराकर देखे । इसका परिणाम क्या निकलता है ? वह एक ही है या पहले से कुछ भिन्न है ? मन शात है और स्थिर है तथा जीवन क्षण-क्षण आगे बढता चल रहा है । क्या इस क्षण मे कोई ऊब है, कोई बोरियत है ? क्या इस क्षग मे कोई हर्ष है, प्रसन्नता है ? यदि है तो हमे उसका पता नहीं है । क्या इस एक क्षण मे हम किसी वस्तु के प्रति जागरूक है, सावधान है ? ऐसा लगता है कि जागरूकता भी सोने चली गई है । अब हमारे पास क्या बच जाता है ? हम यह नहीं जानते । हम मूर्ख है कि बुद्धिमान ? हम यह भी नहीं जानते । परन्तु इतना है कि हम जीवित है । हम सक्रिय है, क्रियाशील है । न हम सो रहे है, न मर गए है । यह अस्तित्व का सौदर्य है, जिसे न तो विचार का स्पर्श होता है और न जागरूकता का । यह जीवन का सौदर्य है, उसका ऐश्वर्य है जो एक क्षण के भीतर प्रकट हो जाता है । हम इसे क्षण के पीछे दौडने का खेल न बनाएँ । ऐसा सम्भव है कि अगले क्षण ही हम इस हर्ष से वचित हो जाएँ । मनोयोगपूर्वक ध्यान न देने से यह नया खोजा हुआ प्रकाश और यह स्वातत्र्य लुप्त हो जा सकता है । परन्तु यदि हम क्षण पर फिर ध्यान करे और इस बात का बोध हो कि वास्तविक जीवन एक क्षण का है, तब हम उस सुगन्ध और सौदर्य का अनुभव कर सकते है, जो विवेक से उत्पन्न होता है

क्षणतत्क्रमयो सयमाद्विवेकज ज्ञानम् ।

—पातजल योग दर्शन 3/52

"क्षण और उसके क्रम मे सयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करने से विवेकजनित ज्ञान उत्पन्न होता है ।" अर्थात् क्षण पर और क्षणो की परम्परा पर ध्यान एकाग्र करने से प्रकाश की प्राप्ति होती है ।





हमे आशा है कि हम अब तक निरीक्षण की कला को खोजने के मार्ग पर काफी आगे बढ आए होगे । हम देखते आए है कि जीवन मे हमारे विचार, भाव, स्वग और हमारी प्रतिक्रियाएँ कैसा कार्य करती है । हमने काल पर चिन्तन किया है । क्षण के रूप मे काल पर, विचार के रूप मे काल पर, अह के रूप मे काल पर और मृत्यु के रूप मे काल पर चिन्तन किया है । इस सारे चिन्तन के बीच हम मन की अनेक जटिल और चक्करदार गतिविधियो से उत्तरोत्तर परिचित होते ही आए है । इस प्रकार प्रगतिशील जागरूकता ने हमारी विवेकशक्ति को एक नया आयाम प्रदान किया है । हम कभी-कभी अपनी जागरूकता का सूत्र खो देते है और उसके फलस्वरूप कष्ट भोगा करते है । हमने कितनी बार न सोचा होगा कि हम सतत तत्परतापूर्ण जागरूकता का अभ्यास करते रहे, जिससे दु ख और कष्ट हमारे पास न आ सके । परन्तु क्या हम इस प्रलोभन के आगे झुक जाएँ ? किसी भी वस्तु का अभ्यास, भौतिक स्तर पर जहाँ एक आवश्यकता बन जाता है, उसे छोडकर हर्ष और स्वतत्रता का आभास देगा । परन्तु क्या वास्तव मे यह हमारे मन को एक विशेष निश्चल स्तर पर फँसा नहीं देता और हमारी सभी प्रकार की गतिविधियो को रोक नहीं देता, जो गतिविधियाँ, नई दृष्टियाँ खोलने के लिए, हमे सर्वोच्च शिखर

पर पहुचाने के लिए इतनी आवश्यक है । जो मन अपने ... के सम्बन्ध मे बिना किसी आत्मप्रक्षेपण के या बिना पूव-निश्चित ... यात्रा आरम्भ करता है—जो मन अतृप्त असतोष के ... अत्यन्त तीव्र गति से अग्रसर होता है और पबस ऊँचा ... है ।

हम ज्यो-ज्यो गहरे उतरते है, त्यो-त्यो मन ... होता चलता है । वह नाम, ख्याति और यौन जैसे बाहरी सुखो का ... उन पर उत्तरोत्तर कम आश्रित रहता है । ... का एक प्रकाश का अनुभव हुआ जो कि अन्धकार म प्रकाश ... ज्ञान और आत्मज्ञान की ओर चलने लगती है । ... किनारा बना । हम उत्तरोत्तर यह महसूस कर सकते है कि यह ... बोधशक्ति हमारे लिए एक नया बन्धन एक नई जजीर और एक भार बनती चल रही है । हम यदि नए-जागृत ज्ञान स प्राप्त होने वाले नाम और ख्याति की ... पर अपनी प्रतिष्ठा नही खडी करना चाहते हम यदि अह को उस ... पर बैठाने के लिए नही तुले है, तो हम उस अन्तिम द्वार पर पहुच गए है जो महाशान्ति म खुलता है । यहाँ ज्ञान और विवेक सो जाते है । यहाँ पहुँचकर सुख और दु ख कष्ट और प्रसन्नता के बीच का अन्तराल इतना छोटा और नगण्य-सा बन जाता है कि हम केवल एक गति ही महसूस करते है । वह अत्यन्त सौम्य और मृदु लहरी जैसी होती है । सकारात्मक और नकारात्मक शिव ओर शक्ति के बीच हम केवल इसी अत्यन्त मृदु लहरी की अनुभूति करते है । उस समय और कुछ शेष नही रहता । केवल रह जाती है अनिर्वचनीय आनन्दहीन परम आ... स्थिति ।





गुरु कौन हे ? गुरु वैयक्तिक हे कि अवैयक्तिक ? क्या आध्यात्मिक प्रगति के लिए गुरु आवश्यक है ? इन अत्यन्त उचित और सगत प्रश्नो पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

जीवन की समग्र प्रक्रिया मे सत्य या वास्तविकता को पृथक् नहीं किया जा सकता । यदि कहीं पर सत्य ईश्वर अथवा वास्तविकता जैसी कोई वस्तु है तो उसे जीवन के मन्दिर म ही खोजना पडेगा । इस जीवन से दूर विलग कोई ईश्वर हो तो वह केवल वैर-विरोध, प्रतिरोध की दिशा मे ही ले जाएगा । ऐसा कोई ईश्वर यदि कही हो तो वह उस समग्र का जिसे हम 'जीवन' कहते हे--एक अश मात्र हो सकता है । जीवन बडी तीव्र गति से घटनाओ क दृश्यो को बदलते रहकर हमे सतत शिक्षण दे रहा है । इससे बडा गुरु और कौन हो सकता है । और वस्तुत यह दीक्षा किसी पौधे स, किसी पुष्प से, किसी पशु से, किसी पक्षी से अथवा किसी ग्रथ से भी प्राप्त हो सकती है ।

किसी मानव व्यक्ति से भी यह प्रकाश प्राप्त हो सकता है और अनेक व्यक्तियो के लिए मानव गुरु से दीक्षा लेना आवश्यक हो सकता है । सीधे-सादे सरल व्यक्तियो के लिए जिनका चित्त निर्मल है, जिनके प्राण भावनामय है, जो

प्राकृतिक सम्पर्क और ससर्ग मे है, उनके लिए किसी मानव गुरु की आवश्यकता नहीं जान पडती, क्योकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान, उनका बोध खुला हुआ है और वे प्रत्येक स्रोत से शिक्षा ग्रहण करने मे समर्थ है । परन्तु जो व्यक्ति ऐसे भाव-प्रवण नहीं है उनके लिए यह आवश्यक हो सकता है कि वे किसी मानव गुरु से दीक्षा ग्रहण करे । यदि इस प्रकार की आवश्यकता पड जाए, यदि ऐसा आश्रय लेना पड जाए तो ऐसे लोगो के मार्गदर्शन के लिए कुछ मुद्दे बताए जाते है ।

सच्चा गुरु वह है जो अपने शिष्य को यह सिखाता है कि विचार किस प्रकार करना चाहिए, परन्तु यह नही सिखाता कि क्या विचार करना चाहिए । जो व्यक्ति अपने शिष्य मे विवेक का जागरण करता है वही सच्चा गुरु है । वह उस स्नातकोत्तर कक्षा का प्राध्यापक है जो छात्र का इस प्रकार मार्गदर्शन करता है कि उसमे सच्ची जिज्ञासा की भावना उत्पन्न हो जाए । वह अपने छात्रो के शोधकार्य मे उन्हे ऐसी सहायता प्रदान करता है कि वे स्वय शोध करने मे समर्थ हो सके । ऐसा नही कि वह छात्र को कुछ बने-बनाए धर्म और रूढियाँ बता दे, फिर वे कितनी ही उच्च और उत्कृष्ट क्यो न हो । ऐसे प्राध्यापक मे, ऐसे शिक्षक मे नम्रता, हृदय की सरलता और सत्य का प्रेम तो होना ही चाहिए, यदि वह अपने शिष्य के मन मे इन गुणो को जमाना चाहता है । उसमे शिष्य के साथ इसी स्तर पर सम्पर्क साधने की क्षमता होनी चाहिए । इसके स्थान पर यदि वह एक अधिकारी सत्ताधारी के रूप मे कार्य करता है—जो प्रकृत्या ही स्वभावत जिज्ञासा और शिक्षण मे बाधा डालता है तो ऐसा गुरु सच्चा गुरु है ही नही । यदि वह महत्त्वाकाक्षी है, नाम, ख्याति अथवा धन-सम्पत्ति का लोलुप है, तो वह शिष्य के प्रति सच्चा, स्नेहल और प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रख ही नही सकता । वह उस स्थिति को सचारित कर ही नही सकता, जिसे हम 'प्रेम' कहते है ।

जो व्यक्ति पूजा-अर्चा चाहता है अथवा दूसरो को इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि वे गुप्त या प्रकट रूप मे उसकी पूजा-अर्चा करे, वह सच्चा गुरु होने की सामर्थ्य ही नहीं रखता । जो साधक अज्ञान से मुक्त होने के लिए परिश्रम कर रहा है उसे गुरु की आवश्यकता पड सकती है परन्तु उसे ऐसे गुरु की उपेक्षा करनी चाहिए जो शिष्यो की तलाश करता रहता है । केवल वही व्यक्ति दूसरे लोगो मे स्वतत्रता के प्रेम की भावना भर सकेगा, जो स्वय स्वतत्र है और जो स्वतत्रता से प्रेम

करता है ।

यदि किसी का गुरु ऐसा है जिसमे नम्रता नही है तो उसे सावधान हो जाना चाहिए कि वह एक जीवित परमेश्वर के हाथो मे पड गया है । वह जीवित परमेश्वर महाभयकर और क्रूर हो सकता है ।

लोकतत्र और स्वतत्रता के सिद्धान्तो का विकास होने से, उनकी कृपा से ऐसे जीवित परमेश्वरो की सम्भावना घटती जा रही है जो बडी सख्या मे मानव समुदाय पर अपना पूरा नियत्रण रख सके । फिर भी सच्चे साधको को इस बात से सावधान रहना चाहिए कि वे जनसमूह को प्रचार और प्रकाशन के जादू से सम्मोहित करने वालो के शिकार बनने से अपने को बचा ले । वे इस बात को सदा स्मरण रखे कि अभी जो अत्यन्त सुखद, विश्वासदायक और सुरक्षापूर्ण प्रतीत होता है वही सबसे बडा बन्धन बन सकता है । वह ऐसी कडी जजीर बन सकता है जिससे कभी छुटकारा न हो सकेगा ।

यदि हम सच्चा गुरु न खोज पाएँ—आज के विश्व मे ऐसे व्यक्ति विरल है—तो यह बहुत अच्छा होगा कि हम निगुरे ही रहे और अकले रहा करे, जितनी अच्छी तरह सम्भव हो, जीवन का सामना करे । यदि हम अपने प्रति ईमानदार है और हमारा प्रेरक हेतु स्वच्छ है तो प्रकृति कभी हमे नीचे नही गिराएगी ।

भारत के उपनिषद् काल मे सदैव ऐसा होता रहा है कि शिष्य का विवेक जगाने के लिए गुरु सदैव उसे ऐसा मार्ग दिखाते थे कि जिससे वह स्वय सत्य को खोज कर ले । उसकी जिज्ञासा की प्रवृत्ति को वे सदेव प्रोत्साहित करते रहते थे । उस काल के उपरान्त बहुत दिनो पर ऐसी स्थिति आइ कि जिज्ञासा का स्थान सुरक्षा की सीमान्त कामना ने ले लिया । तब गुरु वैसा ही अधिकारी सत्ताधारी बन बैठा जैसे कि निरकुश राजा और पुजारी-पुरोहित बन बैठे ।

अब हम यह आशा करे कि हम नए युग के उषा काल मे है, जब पुराने मूल्य और प्रतिमान मृतप्राय होते जा रहे है । इस युग मे विद्रोह की एक नइ भावना जाग रही है । निरन्तर जिज्ञासा करते रहने का, सतत प्रयत्न करते रहने का नया युग आ रहा है । अब जो कुछ असत्य है वह ताश के पत्तो के महल की भाँति लडखडाकर गिरने की स्थिति मे पड गया है ।

नए युग का गुरु एक नई समाज-व्यवस्था का कार्यकर्ता होगा जो अन्य समाजसेवियो के साथ मिलकर विभिन्न स्तरो पर समाज की सेवा करेगा । अस्तु,

वे कार्यकर्ता अपनी प्रतिष्ठा बनाने या बढाने के लिए अपने पदो का दुरुपयोग नही करेगे । जो व्यक्ति सत्य की अनुभूति करता है उसके लिए अपनी तथा दूसरो की स्वतत्रता परम पवित्र वस्तु होती है । स्वतत्रता का सौंदर्य ही यह है कि वह अविभाज्य होती हैं ।

गुरु यदि अपनी अधिकारपूर्ण सत्ता न भी खडी करे तो शिष्य अचेतन रूप से अपनी मनोवैज्ञानिक सतुष्टि और सुरक्षा के लिए गुरु की सत्ता खडी कर सकता है । केवल उस स्थिति मे ऐसा नही होगा जब शिष्य आरम्भ से ही यह सीख लेगा कि स्वतत्रता से बढकर कोई वस्तु नही है । परन्तु शिष्य जब तक किसी आसक्ति म पडा रहता है तब तक वह सतत कोई-न-कोई गुरु, कोई-न-कोई अधिकारी अपने ऊपर बैठाता ही हे । सुखोपभोग की उसकी अपनी लालसा ही उसकी मार्गदर्शिका और गुरु बन जाती है ।

इन सब बातो की अनुभूति करके मनुष्य किसी बाहरी गुरु की आवश्यकता से ऊपर उठ सकता है, परन्तु अपने स्वय के अनुभव की सत्ता वाले भीतरी गुरु का क्या होगा ?

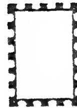
यात्रा के प्रथम चरण मे ऐसा आवश्यक था कि मनुष्य स्वय अपने अनुभव पर निर्भर रहे, किसी दूसरे के अनुभव पर निर्भर न रहे । परन्तु अब इतना अधिक अनुभव प्राप्त करने के बाद यह समझ लेने का अवसर आ गया है कि अनुभव, चाहे अपना हो चाहे पराया वह जीवन के अथाह सागर को मापने मे असमर्थ है । निरपेक्ष सत्य सारे अनुभवो के क्षेत्र से परे है । अत जब हमारे अपने अनुभव की सत्ता समाप्त हो जाती है तो हमारे पास बचता क्या है ? हम बिल्कुल हल्के हो जाते हे । खाली हो जाते है । शून्य हो जाते हैं और सारे भार से मुक्त हो जाते है । इस शून्यता के साथ, इस निर्मलता के साथ हम अनुभव की देहली पर जा पहुँचते है । वह अनुभूति की सर्वोच्च चोटी है । प्रत्येक वस्तु उसी मे से निकलती है और विकसित होती है । वह सारे जीवन का नकारात्मक मूल स्रोत है, आदिकरण है ।

इस बात की पूरी सम्भावना है कि इस पुस्तक ने कुछ लोगो को आरम्भिक प्रेरणा दी हो, अथवा उन्हे उनकी यात्रा मे कभी-कभी कोई सहायता दी हो । परन्तु अब यदि वे ऐसे बिन्दु पर पहुँच सकते है जहाँ उन्हे अपनी जीवन-यात्रा मे किसी पुस्तक अथवा किसी व्यक्ति पर निभर रहने की आवश्यकता नही रह जाती तो वह

क्षण धन्य होगा । कारण, इस यात्रा का अन्तिम छोर अकेले ही प्राप्त करना होगा, फिर यह यात्रा चाहे प्रत्यक्ष भौतिक विश्व की हो चाहे आध्यात्मिक जगत् के सर्वोच्च स्तर की हो । वह दरवाजा इतना सँकरा है कि 'तामे दो न समाहिं' ।

जीवन की ओर ले जाने वाला द्वार अत्यन्त संकीर्ण है और उसका मार्ग भी संकीर्ण है ।

—बाइबिल नया करार
(न्यू टेस्टामेण्ट) मैथ्यू 7/14



आहार और स्वास्थ्य



प्रौढ शरीर मे भोजन का कार्य है क्षीण ऊतको या कोशिकाओ को पुन स्थापित करना और शरीर के वजन को ठीक बनाए रखना । अस्तु, केवल भोजन ही शरीर को शक्तिशाली बनाने के लिए पर्याप्त नही है । मानसिक और शारीरिक स्फूर्ति मनोवैज्ञानिक कारको पर निर्भर करती है । यदि केवल भोजन ही शक्ति का उच्च स्तर बनाए रखने मे समर्थ होता तो अधिकाश लोग जिन चाय, कॉफी, शराब जैसे उद्दीपक पदार्थो के अभ्यस्त होते है उन उद्दीपको की कोई आवश्यकता न पडती । यदि कोई व्यक्ति शात और ध्यानमय स्थिति वाले मन का विकास करता है तो खानपान और निद्रा सम्बन्धी उसकी भौतिक आवश्यकताओ मे परिवर्तन होने की सम्भावनाएँ है । वह पहले जितना खाना खाता था वह मात्रा उसे अधिक लग सकती है और उसके कारण शरीर का वजन बढ सकता है । आलस्य आ सकता है । बीमारी आ सकती है । यदि भोजन पर मनोवैज्ञानिक निर्भरता समाप्त की जा सके तो शरीर थोडे भोजन से ही अपने को समजित करना सीख लेता है और उससे भी ऊँचे स्तर वाली शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति बनाई रखी जा सकती है । सुसम्बद्ध और सगठित जीवन के लिए शरीर और मन की ऐसी पारस्परिक क्रिया स्वाभाविक और सहायक होती है परन्तु उपवास, अनाहार, अर्ध-अनाहार, हठयोग,

औषधियो या आत्म-सम्मोहन के आधार पर आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक स्थितियो का विकास अवाछनीय हे । इस प्रकार की बाह्य प्रेरित स्थितियॉ अपनी खडित प्रकृति के कारण समग्र व्यक्तित्व का निर्माण नही कर सकती ।

प्राय सभी साधक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न करते रहते है कि आध्यात्मिक जीवन के लिए किस प्रकार का भोजन अनुकूल पडेगा । जैसा कि अन्य दिशाओ मे है, वैसा ही भोजन के सम्बन्ध मे अपने मन मे अत्यधिक प्रतिबद्धता अवाछनीय है । इतना तो स्पष्ट ह कि भोजन पर्याप्त होना चाहिए और पौष्टिक भी होना चाहिए । परन्तु उसकी कसौटी क्या हो ? पोषण सम्बन्धी विज्ञान अभी भी प्रारम्भिक अवस्था मे है । शरीर पर भोजन के प्रभावपूर्ण अनुकूल परिणामो का,भूख से अधिक खाने का, जोखिमो का, नाना प्रकार के अस्वाभाविक भोजनो की प्रतिक्रियाओ का, अथवा विशिष्ट भोजनो की मॉग आदि का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए अभी बहुत अधिक शोध करना बाकी है । ऐसी परिस्थितियो मे पोषणशास्त्रियो की एकपक्षीय बाते ऑख मूँदकर स्वीकार कर लेना अवैज्ञानिक भी है और खतरनाक भी ।

सभ्य पुरुष ने स्वाद के सम्बन्ध मे अनेक आदत डाल रखी हे, अनेक युक्तियॉ निकाल रखी है । ये सभी स्वस्थ जीवन के लिए लाभकर ही होगी, ऐसा नही है । प्रकृति ने हमे स्वाद के अकुर दे रखे है, जिनकी सहायता से मनुष्य अपने शरीर के लिए उपयुक्त भोजन का चुनाव कर सकता है और हानिकारक भोजन का त्याग कर सकता हे । परन्तु मनुष्य तो अपनी बुद्धि का उपयोग करता है, या कहिए बुद्धि का दुरुपयोग करता है और उसने भूख बढाने के लिए नमक, मिर्च, मसाला, चीनी आदि बडी मात्रा मे खाने की आदत डाल ली है । इस प्रकार उसने सच्ची भूख को, स्वाद ग्रहण करने की अपनी क्षमता को मन्द कर डाला है । इस प्रकार उसने अनुपयुक्त आहार को बहुत अधिक मात्रा मे खाने के लिए बाढ द्वार खोल रखे है । आधुनिक सभ्यता की अधिकाश बीमारियॉ इसी पेटूपन और अनुपयुक्त भोजन के कारण है ।

इधर कुछ दिनो से प्रकृति की ओर लौटने का एक नारा चल पडा है जो सम्भवत पोषणशास्त्रियो की उपेक्षा के रूप मे है । पर इस बात का सुझाव देने के लिए अनेक प्रमाण उपस्थित है कि मनुष्यो और पशुओ मे ऐसी निहित मनोवैज्ञानिक यत्र-रचना है जो पौष्टिक आहार चुनने के लिए उनका मार्गदर्शन करती है । उसमे शर्त यही है कि यह चुनाव अन्य कारणो या तथ्यो द्वारा अत्यधिक सकुचित न कर

दिया जाए । यह मान लिया जा सकता है कि हम कुछ भोजनो को शारीरिक विकास की भावना के साथ जोडना सीखते है ।[1]

सामान्यत हम देखते है कि कुत्ते को यदि कब्ज हो जाता है तो वह अपने स्वाभाविक भोजन की अपेक्षा घास खाना अधिक पसन्द करता है । यह एक उदाहरण है, जिसे योगियो की भाषा मे 'शरीर की चेतना कहा जाता है । सभ्य पुरुष मे नाना प्रकार के मनोभावो, अनेक आदतो, व्यसनो और छिछले सुखो के विस्तार द्वारा यह चेतना या तो मन्द बना दी गई है या लगभग समाप्त कर दी गई है । इसने अपनी ओर से स्वस्थ और सबल शरीर के स्वाभाविक सुखो और शारीरिक स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले कृत्रिम सुखो के बीच एक सघर्ष लाकर खडा कर दिया है । मनुष्य यदि सुख और आनन्द से भरा सामजस्यपूर्ण जीवन जीना चाहता है तो उसे शरीर की इस चेतना को फिर से खोजना पडेगा ।

मन ज्यो-ज्यो अधिक भावनाशील और शक्तिशाली बनता चलता है त्यो-त्यो वह प्राय देखता है कि तन और मन को सचेत करने के लिए बाहरी उद्दीपन अनावश्यक है । तब अत्यधिक मात्रा मे भोजन करने की अथवा बहुत ऊँचे प्रकार के सिझाए भोजन की और पशुओ के मास आदि से प्राप्त भोजन की आवश्यकता उत्तरोत्तर घटती चली जाती है ।

20 से 25 साल की आयु के भीतर शरीर की वृद्धि, उसका बढना-पनपना समाप्त हो जाता है । जीवन की इस अवधि के बाद शरीर मे धीमे-धीमे उसे बिगाड देने वाले परिवर्तन होने लगते है । जैसे धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) जिसमे धमनी की दीवारे कडी पड जाती है । अधिक कैलरी (ऊष्माक), अधिक वसा और अधिक प्रोटीन वाला भोजन करने से धमनी का यह कठोरपन जल्दी आता है । समुचित व्यायाम और गहरे श्वास-अभ्यास के साथ-साथ यदि निम्नाकित नियमो के अनुसार चला जाए तो शरीर को स्वस्थ बनाए रखने मे सहायता मिलेगी और उसके साथ-साथ शरीर को बिगाडने वाले परिवर्तन भी घटते चले जाएँगे

• इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि शरीर मे होने वाली छीजन की पूर्ति के लिए भोजन होता है । उद्दीपन अथवा शक्ति का तात्कालिक सीधा स्रोत मन है । मन जब निरर्थक विचार-प्रक्रियाओ और भ्रामक विश्वासो के कारण

1 राइट और सेमसन एप्लाइड फिजियोलॉजी दसवा सस्करण पृष्ठ 445

होने वाले अनावश्यक शक्ति-क्षय से मुक्त रहता है तो उसमे अपनी निजी शक्ति भरी रहती है जबकि सामान्य मन उद्दीपन के लिए आहार पर, धन पर और भौतिक पदार्थों पर ही निर्भर रहेगा ।

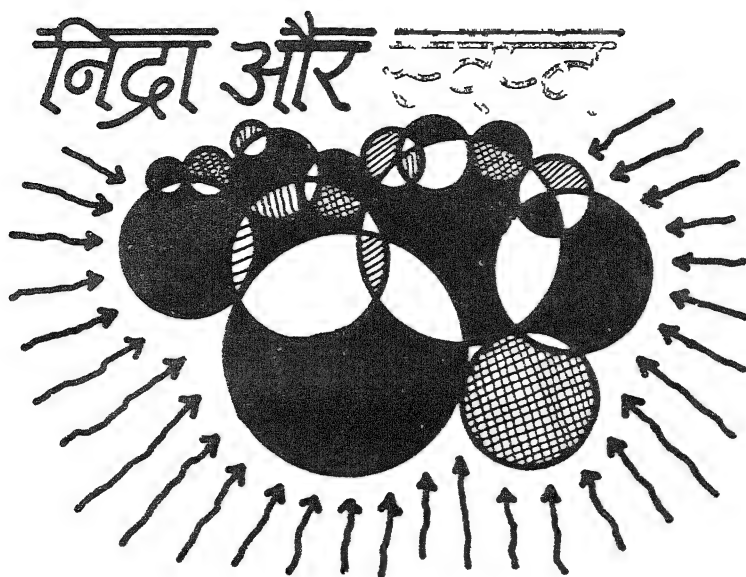
• जब तक सच्ची तेज, स्वाभाविक भूख न लगी हो तब तक कुछ भी नहीं खाना चाहिए । सापेक्षिक खालीपन की सरल सनसनी केवल मनोवैज्ञानिक भूख होती है । वह भोजन करने के लिए सच्ची मार्गदर्शिका नही है ।

• भोजन धीरे-धीरे करना चाहिए । खूब चबा-चबाकर करना चाहिए । खाते समय भोजन की ओर तथा खाने की प्रक्रिया की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए । जब तक ऐसा ध्यान नहीं दिया जाएगा तब तक सही मात्रा मे सही भोजन नहीं किया जा सकता और ठीक ढग से उसका परिपाचन नहीं हो सकता ।

सतुलित भोजन से और मिताहार से शरीर ठीक ढग से काम करता है । उससे शरीर को भी और मन को भी नई शक्ति प्राप्त होगी । यदि कोई व्यक्ति ध्यानमय जीवन बिताता है—एकान्तवास अथवा जड समाधि के जीवन को बिताता है, इसकी बात नही, अपितु सक्रिय ध्यान का, क्षण-क्षण उसे समझने का जीवन बिताता है—तो यह आवश्यक है कि शरीर की आवश्यकताओ के अनुकूल भोजन पर कडा नियत्रण रखा जाए । पेटूपन का मजा न लिया जाए जिसके कि आज अधिकाश लोग अभ्यस्त है । ऐसा करने पर ही तन और मन समरसता से, तालमेल से अपना काम कर सकेगे । तब शायद मनुष्य मधुमेह, तीव्र रक्तचाप, हृदयकष्ट और कैसर जैसी भयकर बीमारियो से मुक्त रह सकेंगे ।

शारीरिक श्रम करने वाले श्रमशील सक्रिय लोगो मे जो भूख रहती है वह शरीर की पोषक आवश्यकताओ के ही अनुकूल होती है । अस्तु जो लोग श्रम नहीं करते, ठलुआ रहते है, उन लोगो मे इस प्रकार की यात्रिक क्रिया बहुत कम देखने मे आती है । अत सामजस्यपूर्ण स्तर पर शारीरिक क्रिया को सतुलित करने के लिए पर्याप्त दैनिक व्यायाम आवश्यक है । उसके लिए 4/5 मील प्रति घण्टे की चाल से घूमा भी जा सकता है अथवा आध घण्टे तक धीरे-धीरे दौडने का अभ्यास भी किया जा सकता है ।





शरीरशास्त्री अभी तक स्पष्ट रूप से इस बात की व्याख्या नहीं कर पाए है कि नीद की आवश्यकता क्या है और उसकी क्रियाविधि क्या है । नींद लगने के दो सर्वसामान्य कारण है—एक है सवेदनात्मक उद्दीपन का ह्रास और दूसरा है सवेदनीय उद्दीपन के रहते हुए अत्यधिक थकावट । अस्तु, प्रश्न यह है कि मस्तिष्क का कौन-सा भाग थकावट अनुभव करता है और इस थकान से छुटकारा पाने मे उसे कितना समय लगता है । इलेक्ट्रोइसफेलोग्राम (Electroencephalogram) मे दिखने वाली डेल्टा लहरे (100 माइक्रोवोल्ट तक) बताती है कि स्वप्नावस्था मे भी मस्तिष्क मे कुछ मात्रा मे गतिविधि, हलचल या क्रियाशीलता रहती है, भले ही वह धीमी और आवृत्तिहीन हो ।

यह कहा जा सकता है कि सोना, नीद लेना एक आदत है जिसमे आदिकालीन जडता, आदिम निश्चेष्टता की एक झॉकी मिलती है । जैसे ही मानसिक हलचल बन्द होती है, मन खाली होता है, वैसे ही उसमे सो जाने की भावना आ जाती है । ध्यानकर्ताओ के प्रारम्भिक अनुभव की यह सर्व-सामान्य बात है । यदि बैठने की मुद्रा मे मेरुदण्ड के साथ-साथ गर्दन भी सीधी और खडी रखी जाए एक सीध मे रखी जाए, तो नीद को टाला जा सकता है । परन्तु गर्दन यदि झुकी हुई, नीचे

लटकती हुई रखी जाए तो नीद के आ टपकने की सम्भावना रहती है । यदि किसी व्यक्ति को सोने और जागने के बीच की अर्ध-जागरण की अथवा सम्मोहक स्थिति की जानकारी हो जाए तो वह अचेतन की एक झॉकी कर सकता है और इस प्रकार कितने ही मानसिक सवेदनात्मक अनुभवो और क्षमताओ का विकास किया जा सकता है ।

चैकोस्लोवाकिया के डॉक्टर मिलान रिजील ने अपने 'विषयी पात्रो (Subjects) मे सम्मोहन द्वारा अतिरिक्त सवेदनीय (Extra sensory Perception) प्रत्यक्ष ज्ञान का विकास किया है ।

स्वप्न मे अचेतन विभिन्न प्रतीको द्वारा अपना प्रक्षेपण करता है, जिसका कि हम स्वप्नो मे अनुभव करते है । इन प्रतीको या स्वप्नो की व्याख्या से हम अपने अचेतन मन की आन्तरिक स्थिति जान सकते है । इन स्वप्नो मे कुछ स्वप्न ऐसे हो सकते है जो कि भविष्यसूचक ढग के होते है और इनमे जो सजीवता, स्पष्टता, प्रकाश और आभा रहती है उससे उन्हे अन्य धूमिल, भ्रान्तिपूर्ण, ऊबड-खाबड स्वप्नो से अलग करने मे सहायता मिलती है । अस्तु, सच्चे ध्यान का उद्देश्य स्वप्नो का विवेचन करना नही है । सर्वोच्च ध्यान का लक्ष्य होता है सारे मानस को शुद्ध करना और चेतन-अचेतन के बीच होने वाले सघर्ष को समाप्त करना । इस सघर्ष की समाप्ति के साथ स्वप्नो की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती । मन जब इस प्रकार मुक्त हो जाता है तब उसे बहुत कम घण्टो स्वप्नरहित गाढ गम्भीर निद्रा की आवश्यकता रह जाती है

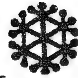
परम शक्तिशाली मानस जो कि सघर्ष से मुक्त हो जाता है और जो ऊब से ऊपर उठ जाता है वह अपने परिवेश से, अपने पर्यावरण से मुक्त हो जाता है । परम सुखमय, आनन्दपूर्ण, पूर्ण सतोषपूर्ण जीवन जीने के लिए न तो किसी बाहरी उद्दीपन की आवश्यकता है और न किसी भीतरी उद्दीपन की ही आवश्यकता है ।

युक्ताहारविहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दु खहा ॥

—भगवद्गीता 6/17

यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने वाले तथा जागने वाले का योग दु खो का नाश करने वाला होता है ।

योग (पूर्ण योग—जो दु ख का अन्त कर देता है) केवल उसी व्यक्ति के लिए सम्भव है जो खाने और पीने मे, कर्म करने मे, सोने मे और जागने मे उचित रीति से सतुलित रहता है ।





क्या आपने कभी इस बात की ओर ध्यान दिया है कि कभी-कभी सहज स्वाभाविक भाव से वस्तुएँ आपके पास आ जाती है ? आप देखते है और स्पष्ट रूप से आप देख सकते है । आप सुनते है और पूरे मनोयोग से सुन पाते है । आप ध्यान करने बैठते है और आपको सहज भाव से ऐसा लगता है कि आप बडी सरलता से मन की गहनतम सीढियो मे उतरते जा रहे है । परन्तु कभी-कभी ऐसे क्षण आते है, जब पूरी शक्ति लगाने पर, पूरा उद्योग करने पर भी ऐसा नही होता । आपने जिसे अत्यन्त आसान समझा था वह आपके लिए असम्भव-सा बन जाता है । अब आप क्या करेगे ? आप अत्यन्त हताश और निराश हो जाते है, परन्तु आप कर क्या सकते है ? क्या आप इसके अतिरिक्त और कुछ कर सकते है ? क्या आपने अपने प्रयत्न मे कोई कसर छोड रखी है ? नहीं । आप अपने प्रयत्न की सीमा पर पहुँच गए है । अपने मन की सीमा पर पहुँचे है । अब अपनी सीमा को पहचाने और अपनी पराजय स्वीकार कर ले । जिस क्षण आप अपनी सीमा को समझ लेते है उसी क्षण आपका मन स्वत शात और स्थिर हो जाता है । इसका नाम है—समर्पण । परन्तु यह ईश्वरेच्छा के आगे समर्पण नहीं है । कारण, न तो आप ईश्वर को जानते है और न उसकी इच्छा को ही जानते है । यदि आपको ऐसा ज्ञान होता,

आप ऐसे चतुर होते तो आपको न तो किसी ग्रन्थ की आवश्यकता होनी और न किसी माधना की । इसलिए आप अपने-आपको धोखा मत दीजिए । उसके स्थान पर आप सरल और नम्र बन जाइए । तथ्यो को पहचानकर समर्पण करना मीखिए । कारण, मूलत आपमे ऐसी कोइ शक्ति नहीं कि आप किसी तथ्य को बदल दे । आप चाहे जितना प्रयत्न करे, कडे-से-कडा प्रयत्न करे पर आप अपने मन की सीमा से ऊपर नहीं उठ सकते । अपनी सीमा के तथ्य के आगे समपण करना आप सीख लीजिए । जिस क्षण आप ऐसा करते है उसी क्षण क्या होना है ? आपने जिसे अत्यन्त कठिन, सर्वथा असम्भव माना था वह आपके आगे घुटने टेक देता है, पूण सम्भव बन जाता है । यह समर्पण का जादू है । ऐसी कोइ घाटी नहीं है जिसे आप समर्पण की कला के सहारे पार न कर सके । समर्पण का अर्थ यह नहीं कि आप सदा के लिए स्थायी तौर पर अपनी पराजय स्वीकार कर ले । ससार मे कभी कोई स्थायी जय या स्थायी पराजय नही होती । और किसी तथ्य के प्रति कोई स्थायी समर्पण भी नही हो सकता । कारण, कोइ भी तथ्य स्थायी नही है । समर्पण का अर्थ निष्क्रियता, सुस्ती, काहिली अथवा निश्चेष्टता नही है । उसका अर्थ है किसी तथ्य का डटकर सामना करना, उसे समग्र रूप से देखना और उसका स्पर्श करना और ऐसा करते हुए उस मौन मे चले जाना जिसमे सर्वोच्च सत्ता, महानतम शक्ति अपने कार्य के लिए सदैव प्रतीक्षा करती रहती है । वह शक्ति शातिपूर्वक परन्तु निश्चित रूप से अपना काम करती है और जैसे ही वह गतिशील होती है, वैसे ही मनुष्य मे नई स्फूर्ति आ जाती है, मन मे ताजगी आ जाती है और आन्तरिक यात्रा पर तीव्र गति से अग्रसर होने के लिए एक नई शक्ति आ जाती है ।

समर्पण आपके स्वभाव के हीन तत्त्वो के साथ कोई समझौता नहीं है । वह मानवीय स्तर पर बुद्धि की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है । आप यदि किसी उकताने वाली समस्या के विचलन से व्यथित है तो शात और स्थिर होकर समर्पण करना सीखे । उस समस्या से लडने-जूझने, उसे दबाने मे अथवा उसके उदात्तीकरण मे अपनी शक्ति का अपव्यय न करे । इस अपव्यय द्वारा आप कहीं न पहुँच पाएँगे । उसका कुछ परिणाम नहीं निकलेगा । उसका सामना करिए, उसे पूर्णत स्पर्श करिए और तब सुधार अथवा सशोधन की कोई बात सोचे बिना अपने मन के कार्य-कलापों के आगे समर्पण कर दीजिए । ऐसा करने पर जो सुख और शाति मिलेगी, जो चैन मिलेगा उसे देखकर आप आश्चर्यचकित रह जाएँगे । आप देखेगे कि

आपके मारे खिचाव, सारे झटके, सारे दबाव एकदम समाप्त हो गए है, पूर्णत मिट गए है ।

यहॉ पर एक समस्या खडी हो सकती है । समर्पण अभी तत्काल हो सकता है । इसी क्षण हो सकता है परन्तु दूसरे क्षण कोई दुर्बलता सिर उठा सकती है, कोई विचलन सामने आ सकती है । यह कोई स्थायी समाधान नही लगता । इसलिए होता है कि आप मन की सारी क्रियाविधि से, उसके पूरे यत्र से भली-भॉति परिचित नही है और सम्भवत इसलिए भी कि आप पूरे तौर से सावधान नहीं है । परन्तु इस बात को आप स्मरण रखिए कि आप एक बार जो कर सकते है उसे दुबारा भी कर सकते है । यदि आप किसी समस्या को मूल रूप से जड-मूल से एक बार हल कर सकते है तो पुन हल करने की आवश्यकता आने पर आपके मन को फिर से वैसी शक्ति मिल जाएगी । अत आप इस श्रद्धा पर अटल रह सकते है । जीवन मे समस्याएॅ तो सदैव आती रहेगी परन्तु आप यदि किसी एक समस्या को पूर्णत हल कर सकते है तो आप सभी समस्याओ को हल कर सकेंगे ।

मानव-मन की सबसे बडी समस्या यह है कि वह किसी समस्या को पूर्णत पूरे तौर पर नहीं समझता । तो आप देखेगे कि समस्या को पूरी तरह से समझ लेने की क्रिया ही समस्या का समाधान है । उसके बाद की जाने वाली भौतिक क्रिया तो एक सरल बात है । किसी समस्या को समझ लेना ही उसका निदान है । किसी प्रश्न को समझ लेना ही उसका उत्तर है । प्रकृति इतनी नम्र और करुणामयी है कि उसने रोग और उसकी दवा, समस्या और उसका हल, प्रश्न और उसका उत्तर दोनो को इतना निकट रख दिया है कि उसके लिए आपको कोई बडी मेहनत, कोई कडा सघर्ष करने की आवश्यकता नहीं है । किसी समस्या पर अपना पूरा ध्यान लगाइए और उसका समाधान आपके पास आ जाएगा । किसी समस्या को पूर्ण रूप से समझना, किसी प्रश्न को ठीक ढग से गढना सर्वोच्च बुद्धि का काम है । आप यदि ऐसा कर सके तो आप परम हिंसापूर्ण पागलपन और उथल-पुथल से भरे हुए विश्व के भीतर भी प्रयत्नशून्य शान्तिपूर्ण जीवन जी सकते है । तभी आप यह समझ सकेगे कि स्वतत्रता मुख्यत परिवेश से मुक्त होना ही है और उससे बिना प्रभावित हुए जीवन जीना है ।

शिवजी और उनके दो पुत्रो गणेश और कार्तिकेय के सम्बन्ध मे एक कथा है । इन दोनो पुत्रो ने यह निश्चय किया कि दो मे से जो व्यक्ति तीनो विश्वो की

परिक्रमा करके पहले आ जाएगा वही बडा माना जाएगा । कार्तिकेय के पास तीव्र गति वाली सवारी थी । वे उस पर सवार होकर बडी तेजी से विश्व-परिक्रमा के लिए निकल पडे । गणेश के पास बडी धीमी चाल वाली सवारी थी । इसलिए उन्होने समझ लिया कि इस सवारी को लेकर दौड मे पडना व्यथ है । वे अपने पिता का ही तीन बार परिक्रमा करके शात होकर बैठ गए । कार्तिकेय जब थके-मॉदे हॉफते हुए लौटे तो गणेश ने घोषणा की कि कार्तिकेय दौड मे हार गए । उन्होने अपनी बात की व्याख्या करते हुए कहा कि भगवान् शिव सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी है । उनकी तीन बार परिक्रमा करन का अर्थ है सारे ब्रह्माण्ड की तीन बार परिक्रमा कर लेना । हिन्दू पौराणिक कथाशास्त्र के अनुसार गणेश बुद्धि के देवता है— 'विद्यावारिधि बुद्धि विधाता ' है । बुद्धि तो इसी मे है कि हम अपनी सीमाऍ, अपनी मर्यादाऍ ठीक ढग से समझ ले और अपनी विवशता के तथ्य के समक्ष आत्मसमर्पण कर दे । उत्तेजित, मूर्खतापूर्ण कार्यकलाप और उसके साथ जुडा हुआ आतरिक सक्षोभ, भीतरी बेचैनी हमे कही नही पहुँचा पाएगी । अपनी आध्यात्मिक यात्रा मे सच्ची प्रगति करने के लिए हमे समर्पण की कला सीखनी होगी । कमकाण्ड-अभ्यास और बाहरी अनुशासनो द्वारा सत्य की अनुभूति नहीं की जा सक्ती । अपनी सीमाओ को, अपनी मर्यादाओ को पहचानिए और समर्पण करना सीख लीजिए । तब बिना बुलाए ही सत्य आपके पास आ जाएगा । उमी प्रकार सिद्धियो या चमत्कारो के फेर मे मत पडिए । आपने यदि समर्पण की कला सीख ली है और आप शाति की गोद मे उतर सकते है, तो ये शक्तियॉ आपको खोजती हुइ आपके पास आ सकती है, पर सम्भवत उस स्तर पर पहुँच जाने पर वे आपके लिए व्यर्थ और महत्त्वहीन बनकर रह जाऍगी ।

इस समर्पण कला का सौदर्य यह है कि दूसरो की अपेक्षा आप आध्यात्मिक प्रज्ञा के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकते है । फिर भी अह आपको स्पश नही करेगा । कारण, आप इस बात को जान जाऍगे कि आप जो कुछ हैं सो आपके समर्पण का ही परिणाम है, न कि किसी अभ्यास का । सर्वोच्च शिखर पर भी नम्रता आपका साथ नही छोडेगी । कारण, नम्रता मे ही सच्ची शुद्धता, सच्चा शील पुष्पित-पल्लवित हो सकता है ।

कुछ साधना-पद्धतियो अथवा एकाग्रता आदि के सहारे आप अन्तज्ञानीय अथवा मनोवैज्ञानिकीय धरातल के सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँच सकते है परन्तु कोई भी

पद्धति ऐसी नही है जो आपको मनोवैज्ञानिक स्तर से बाहर निकाल सके । कुडलिनी योग की गूढ और रहस्यमय भाषा मे आप सप्तम चक्र (सहस्रार चक्र—जो शीर्ष मुकुट मे सहस्र पखुडियो वाला कमल है) तक पहुँच सकते है अथवा सप्तम लोक (सतलोक) मे पहुँच सकते है । यह धनात्मकता का स्तर है । रगावली के सप्त-रगो के सम्मिश्रण श्वेत रग से इसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है । आप सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते है । परम सतोष प्राप्त कर सकते है । परन्तु यहाँ पर पहुँच-कर भी शुद्ध प्रेम और आनन्द की अनुभूति नही होगी । सातवाँ धरातल मानव-मन की खोल का चरम बिन्दु है । कोई भी कडे-से-कडा प्रयत्न भी इसे भग नही कर सकता । कोई भी पद्धति, कोई भी अनुशासन, कोई भी गुरु आपको इसके ऊपर नही ले जा सकता । केवल निरीक्षण की शात ध्यान-प्रक्रिया द्वारा ही आप इस बात की अनुभूति कर सकते है कि आपके मन ने अब तक जो कुछ अनुभव किया है या भविष्य मे करने के लिए आप जो योजना बना सकेगे वह सब सीमित है और वह आपको मुक्ति तक नही ले जा सकता । इस नकारात्मक स्थिति पर पहुँचने पर—इसे आठवाँ धरातल कहा जा सकता है—सारी सिद्धियाँ और सारी शक्तियाँ लुप्त हो जाती है और आपके मन को केवल मौन की ही जानकारी रहती है । प्रश्न है कि अब क्या आप इस नकारात्मक स्थिति मे मौन की स्थिति मे टिके रह सकते है और प्रत्येक आशा, आकाक्षा अथवा परलोक की छवि का पूर्ण परित्याग कर सकते है ? यहाँ तक कि आप मुक्ति की आशा भी छोड दे सकते है ? यह है समर्पण । यही है वह परमोच्च साधन जो आपको 'मै' और 'मेरा' के खोल से ऊपर ले जा सकता है । समर्पण और सन्तोष यही दो तथ्य है जिनके परस्पर मिलन से आणविक विस्फोट से कही अधिक बडा, कहीं अधिक शक्तिशाली विस्फोट महानतम विस्फोट होता है । इसके कारण मानव-मन का पूर्णरूपेण रूपान्तरण हो जाता है और प्रेम की ज्योति से उजाला किया जाता है जो मानवीय होने के साथ-साथ दैवी भी है ।

इस प्रकार आप देखेगे कि उच्चतम आध्यात्मिक क्षेत्र के लिए शातिपूर्ण ध्यान सबसे छोटा और सबसे सुरक्षित मार्ग है । उसमे मानसिक मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के, उसके सिद्धियो और शक्तियो के कोई खतरे नही रहते । आप यदि अपने प्रयत्न मे उत्साही है, गम्भीर है और सर्वोच्च सत्य तथा जीवन का अर्थ और महत्त्व समझने के लिए उत्सुक है तो सबसे सरल मार्ग यही है । अस्तु, समग्र एकीकरण के लिए मनुष्य को अन्त -स्फूर्तिदायक मनोवैज्ञानिकीय स्तर पर अचेतन मन की गहनतम

सतह पर दृष्टिपात करना होगा—जिसकी रूपरेखा 'सर्वोच्च सकल्पना' शीषक वाले अध्याय मे दी जा चुकी है। इस धरातल से गुजरते समय मनुष्य की सिद्धियाँ और शक्तियाँ आपके समीप आ सकती है, आपके पीछे दौड सकती है, परन्तु आप इनके पीछे न दौडे। केवल तब आप अपनी नम्रता को बनाए रख सकेगे। प्रेम केवल नम्रता के भीतर खिल सकता है। प्रेम और सिद्धि अथवा सत्ता शायद ही कभी एक साथ रह पाते हो। प्रेम को छोडकर प्रत्येक शक्ति सघषशील शक्ति होती है। केवल प्रेम-शक्ति ही ऐसी शक्ति है, महान् शक्ति है जिसमे घर्षण और सघर्ष रह नही सकते।

प्रेम के सम्बन्ध मे आपके अनेक मनोभाव हो सकते है। सम्भव है, आपने प्रेम की अनेक परिभाषाएँ पढी हो, परन्तु वह सब प्रेम नहीं है। प्रेम तो वह विस्फोट है जो आपके भीतर उस समय घटित होता है जब आप मौन की स्थिति मे होते है। प्रेम सारी परिभाषाओ, सारी व्याख्याओ की आपति और अपेक्षा कर देता है। इस विस्फोट का प्रकाश एक क्षण भी टिक सकता है, कई घण्टो तक भी टिक सकता है, कई-कई दिनो तक भी टिक सकता है। उसके टिकने की अवधि आपकी पूर्व तैयारी पर, आपकी सरलता पर निर्भर करती है। परन्तु जब भी यह प्रकाश आता है तो वह इस प्रकार आपको अभिभूत कर लेता है, इस प्रकार आपको जकड और पकड लेता है कि आप सावधान न रहे तो आप अपने पुराने यात्रिक मन मे फिसल जा सकते है, परन्तु आप उसमे स्थायी रूप से लौट नही सकते। आप यदि उससे हाथ नहीं जोड लेगे 'नमस्कार' कहकर उसे छोड नहीं देग तो आप केवल अपना दु ख और कष्ट ही बढाएँगे। आपके आगे सर्वोच्च शिखर की ओर बढने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नही रह जाता—अन्य कोई विकल्प ही नही बचता। यह बात दूसरी है कि आप उस मार्ग पर धीरे-धीरे चलते है या तेजी से। यह अवसर तो आपको उस समय मिला था जब आप अपने विकास के सक्रमण काल मे थे। उस समय उसने आपको स्वतत्रता का और दायित्व की भावना का अवसर प्रदान किया था। जैसे पशु के पास अपनी सहज, नैसर्गिक वृत्ति मूल प्रवृत्ति के पीछे चलने के सिवा दूसरा रास्ता नही रहता, वैसे ही उस मनुष्य के पास जो अह की खोल के परे चला गया है, दूसरा कोई विकल्प नही रह जाता। तब दैवी प्रकृति का ऐसा खेल होता है, जिसमे अन्य किसी विकल्प के लिए स्थान ही नहीं रह जाता।

आप अपने मार्ग पर पर्याप्त आगे बढ सकते है—परन्तु यहाँ आपकी अह की

मापछडी नही है । इसलिए आपको अपनी प्रगति का ठीक-ठीक पता नही चलता । ऐसी स्थिनि मे कभी-कभी आपको अपने भूतकाल की, अपने अर्ध-पाशविक और अर्ध-मानवीय जीवनकाल की स्मृतियाँ आ सकती है । आपको इन स्मृतियो का केवल निरीक्षण करते रहना है और उन्हे इतनी समग्रता के साथ महसूस करना है कि आपके भूतकाल का कुछ भी अश अवशिष्ट न रहे । तब आप ऐसे क्षेत्र मे प्रवेश करेगे जहाँ आपको न तो मुक्ति मे कोई रस रह जाएगा और न बोधशक्ति मे ही । पहले जिस प्रकार सिद्धियाँ आपके पीछे पडी थी उसी प्रकार अब मुक्ति भी आपके पीछे पडेगी । तब यदि आप इस सर्वोच्च शक्ति के साथ अपने को एकाकार करने की भूल नही करेगे—उससे आपकी यात्रा मे बाधा पडेगी—तो आप देखेगे कि केवल एक दैवी गतिविधि हो रही है, न कोई द्रष्टा है न कोई दृश्य है । न कोई प्रेमी है न कोई प्रेमास्पद ।

यह स्थिति पराभक्ति की है, जिसमे कोई आराध्य नही है । यह ज्ञान और बोधशक्नि की सर्वोच्च मजिल है जहाँ ये दोनो ही प्रेम के समुद्र मे विलीन हो जाते है । यदि आपने अपनी यात्रा अतृप्त असतोष और गम्भीरता के साथ आरम्भ की है तो इस चोटी पर पहुँच करके भी आप सतुष्ट नही होगे । चूँकि अब आपको न तो बोध-शक्ति मे कोई रस है और न मुक्ति मे ही कोई रस है, आप किसी भी वस्तु के साथ तदाकार नही होना चाहते । अत आपके लिए उस मजिल पर जाने का मार्ग खुल जाएगा, जहाँ न सुख है न कोई दु ख—कोई अनुभूति ही नही है । इस स्थिति की कल्पना भी भयोत्पादक है परन्तु अनुभव करने के लिए यह परम सुन्दर वस्तु है । यह अनुभव से अननुभव का पारगमन है ।

समर्पण और धैर्य के अतिरिक्त महाशून्य के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का अन्य कोई मार्ग नही है । उसके अलावा अन्य कोई पद्धति या उपाय नहीं है । वहाँ पर सारे मार्गो का, सारी पद्धतियो का अतिम छोर आ जाता है । यह वह परमोच्च क्षण है जब सत्ता का अन्त हो जाता है और या सारे ग्रन्थ अर्थहीन हो जाते है, अथवा सच्चे अर्थ से ओतप्रोत हो जाते है । अब आपको न किसी ग्रन्थ की आवश्यकता है और न किसी गुरु की । अब स्वय आपके भीतर से देवत्व श्वास भरने लगता है । अपने को अभिव्यक्त करने लगता है । अब खानपान, भोजन और टहलना-घूमना ही सर्वोच्च चमत्कार का रूप धारण कर लेते है ।



वास्तविकता एक प्रवाहमय स्थिति है । वह सदैव परिवर्तित होती रहती है । वह तीव्र उत्कटता की उपज है जिसकी व्याख्या विचार अथवा कल्पना के माध्यम से व्यक्त होती है । परन्तु उत्कटता विचार के द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती । वह केवल स्पष्ट प्रत्यक्ष बोध से ही आती है । विचार अथवा कामना के द्वारा जा अभियान किया जाएगा वह तीव्रता नही, वह होगा सघर्ष का बल या उसकी शक्ति । अत प्रत्यक्ष बोध सच्ची तीव्रता का भण्डार है । वही उसका जलाशय है । प्रत्येक प्रत्यक्ष बोध को पूरे तौर से जीना है, जिससे वह उसे सच्ची वास्तविकता से रूपान्तरित कर सके । जब प्रत्यक्ष बोध को जिया नहीं जाता तो वह एक बौद्धिक निरूपण बन जाता है और चेतना मे सामान्य सशोधन कर देता है जो प्रत्यक्ष ज्ञान की चेतन अनुभूति होती है । अत मन वास्तविकता के दूसरे स्तर की सम्भावना के लिए खुले, उसके पहले सहज वास्तविकता के प्रत्येक स्तर को पूरे तौर से जीना है । पूर्ण रूप से रूपातरित चेतना मे ऐसी नमनशीलता, ऐसी लचक होती है जो बहुत जल्दी वास्तविकता के एक स्तर से दूसरे स्तर मे चली जाती है, ताकि बाहर की प्रतिबद्ध वास्तविकता से उसका सम्बन्ध हो अथवा उसका रूपान्तरण हो सके । जब मन सामाजिक चुनौती के साथ सम्बन्धित हो सकता है और उससे पूर्णत अनुक्रिया

कर सकता है केवल तभी यह कहा जा सकेगा कि समग्र रूपान्तरण की नीव पड गई ।

बौद्धिक स्तर पर रूपान्तरण का घटना कालातीत होता है, परन्तु जब रूपान्तरण की शक्ति भावनात्मक या मनोवैज्ञानिक और भौतिक स्तर पर कार्य करती है, तो ऐसा लगता है कि एक प्रक्रिया आरम्भ हो गई है । यह प्रक्रिया लम्बी दीर्घकाल-व्यापी भी हो सकती है, अल्पकाल-व्यापी भी । यह मन की और तन की मनोवैज्ञानिक और शारीरिक ग्रहणशीलता और उसके खुलेपन पर निर्भर करती है । लेकिन यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि इस प्रक्रिया को स्निग्ध गति से निर्बाध रूप मे, तीव्र गति से चलाने के लिए मनोवैज्ञानिक काल को पूर्णत समाप्त हो जाना पडेगा । मन को—जो अब परिवर्तित होता चल रहा है—शाश्वत क्षण मे निवास करना होगा और लक्ष्य के सम्बन्ध मे भावी कल्पनाओ और आदर्शों के सम्बन्ध मे खडे किए गए सभी प्रक्षेपणो का उन्मूलन कर डालना होगा जिससे मानस मे और शरीर मे उस कालातीत शक्ति की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति हो सके ।

यह प्रक्रिया ज्यो-ज्यो आगे बढती है त्यो-त्यो मन मे नई योग्यताएँ और क्षमताएँ व्यक्त होती है और शरीर उत्तरोत्तर रोग-बीमारी, असामजस्य क्षरण और जराग्रस्तता से मुक्त होता चलता है । शरीर और मस्तिष्क की प्रत्येक कोश अतिजीवन के लिए सतत प्रयत्नशील है । अतिजीवन की यह प्रेरणा, उत्सुकता जिसके लिए मनोवैज्ञानिक और भौतिक सुरक्षा की आवश्यकता है—अमरता की एक अभिव्यक्ति है । जब मानस मेरे और तेरे के भेद मे, व्यक्ति और अपने चारो ओर घिरे विश्व के भेद से ऊपर उठ जाता है तब वह मनोवैज्ञानिक आघात से परे चला जाता है । मानस मे ईर्ष्या, विद्वेष, प्रतिद्वद्विता और हिसा के रूप मे प्रकट होने वाले सघर्ष ही मनोवैज्ञानिक आघात के आधार है । मानस जब सघर्ष से मुक्त हो जाता है तो शरीर मे एक सम्पूर्णता प्रतिबिम्बित होने लगती है । तब धीरे-धीरे शरीर की वह स्थिति हो जाती है जब उसे न तो कोई आघात लग सकता है न उसे कोई बीमारी हो सकती है और न वह अशक्त हो सकता है । बुढापा आने की गति धीमी हो जाने अथवा रुक जाने के कारण शरीर मे कालातीतता प्रतिबिम्बित होने लगती है । तब शरीर अनिश्चित काल तक, अति दीर्घ काल तक टिक सकता है अथवा शरीर मे नए उत्परिवर्तन, नए उद्भेदन प्रकट हो सकते है ।

मनुष्य तकनीकी दृष्टि से प्रतिरोपण तथा ऐसे ही अन्य जैव-चिकित्सा के

साधनो द्वारा बीमारी और वृद्धावस्था पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्नो मे सलग्न है । वह ऐसे युग की तलाश मे है जिसमे निकट भविष्य मे शरीर लगभग अमर जैसा बन जाएगा । अस्तु, तकनीक के माध्यम द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति मे कृत्रिम साधनो के समर्थन और जीवनपोषण पर निर्भरता समाप्त नही होती । और इसलिए यह निर्भरता और ऊब अथवा बोरियत का भय मिलकर अमरता को एक हास्यास्पद वस्तु बना देगा । यह तथाकथित अमरता, प्लास्टिक की अमरता की सजातीय होगी जो कि केवल यात्रिक अस्तित्व वाली वस्तु है । परन्तु जब चेतना के रूपान्तरण द्वारा परिवर्तन लाया जाता है तो अमरता की पहली अभिव्यक्ति मानस मे पहले होती है, फिर शरीर मे होती है । तभी और केवल तभी मानवीय व्यक्तित्व के समग्र रूपान्तरण सच्ची अमरता का दर्शन होता है । तब अमरता मे केवल शरीर का ही अतिजीवन नही होता उससे नवीन मानव प्राणी तथा नई समाज-व्यवस्था का उद्‌भव भी होता है ।

सत्य कालातीत और अटल है । जबकि वास्तविकता या यथार्थता देश और काल से बद्ध है जा कि विचार और कल्पना से निर्मित, पोषित तथा सशोधित होती है । जब तकनीक के माध्यम द्वारा विचार से वास्तविक्ता की रचना की जातो है तो ऐसी वास्तविकना मे विचार की सीमाएँ, कमियाँ और मर्यादाएँ परिलक्षित होती है । जब रूपान्तरित चेतना प्रज्ञा के माध्यम द्वारा वास्तविकता की रचना करती है, यद्यपि इस स्थिति मे विचार को एक यत्र अथवा साधन बनाया जाता है, तो भी उसके परिणामस्वरूप जो वास्तविकता जन्म लेती है उसमे वह सीमा और अव्यवस्था नही रहती जो विचार निर्मित वास्तविकता मे सर्वसामान्य होती है । अत रूपान्तरित चेतना क्रियाशील वास्तविकता के कई स्तर बनाती है जो उसकी अभिव्यक्ति की आवश्यकताओ के अनुरूप होते है । ऐसा मानस वास्तविकता का निर्माता होता है, उसका दास या गुलाम नही होता ।

हम सब लोग विचार और कल्पना के द्वारा वास्तविकता की रचना करने वाले है परन्तु जब हम उसी की रचना करते है तो वह वास्तविकता भय और चिन्ता से भरपूर रहती है और वह हमे गुलाम बना देती है । जब रूपान्तरित मानस प्रज्ञा के माध्यम द्वारा वास्तविकता की रचना करता है तो यह शुद्ध वास्तविकता भय से सर्वथा मुक्त रहती है और वह गुलामी की दिशा मे नहीं ले जाती । तब ऐसी वास्तविकता केवल क्रियाशील होती है और जब आवश्यकना नही रहती तब

रूपान्तरित मानस द्वारा वह विघटित कर दी जाती है । इस प्रकार वास्तविकता मे जीते हुए भी मन मुक्त बना रहता है ।

अत मुक्त मानस वास्तविकता से विलग नही रहता । वह उससे जान बचाकर भी नही भागता । वह उसका रूपान्तरण करता हे और आवश्यकता प्रतीत होने पर उसमे कुछ योगदान भी करता है । इस शुद्ध वास्तविकता की रचना-शक्ति के अभाव मे, मुक्ति मोक्ष केवल बौद्धिक है, निस्सार है, अर्थहीन है । परन्तु यह वास्तविकता की रचना करने वाली मुक्ति अमर रचना शक्ति अह की भस्म के भीतर से ही प्रकट होती है । जा मानस अब भी पसदगियो और वरीयताओ से अव्यवस्थित अथवा बौखलाया रहता है, जो सारे ब्रह्माण्ड के साथ पूर्णत एकाकार नही होता, वह इस चोटी को स्पर्श नही कर पाता । सारी रुचियो के समाप्त होने पर ही मन इस चोटी की अपनी यात्रा का श्रीगणेश कर सकता है जो कि दिक् और काल से परे है । यह सर्वोच्च बलिदान है जो सत्य की वेदी के समक्ष अह को करना पडेगा जिससे सच्चे व्यक्तित्व का उद्भव हो सके ।



लेखक-परिचय

डॉ० राजेश्वर प्रसाद कौशिक का जन्म भारत मे सन् 1926 म हुआ । वे अपने छात्र जीवन मे एक सहपाठी की मृत्यु ेखकर बाल्यावस्था से ही बोधशक्ति या प्रज्ञा की खोज म लग गए । किसी बौद्धिक साधन द्वारा आपका सतोषजनक समाधान नही हो सका और यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि कोई—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभूति हम पूर्ण समाधान नही दे सकती । सभी विचार प्रत्यय और कल्पनाएँ क्रमश विलीन होती गईं और आप इस तथ्य पर पहुँचे कि क्षण-प्रतिक्षण के चिन्तन द्वारा ही वास्तविकता की अनुभूति की जा सकती है और उसे जाना जा सकता है ।

श्री कौशिक ने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करके चिकित्सा को आजीविका के रूप मे अपनाया । वे सन् 1973 तक (23 वर्ष तक) लगातार चिकित्सा करते रहे । उसी अवधि मे ऐसे लोगा के साथ उनका वैचारिक सपर्क बढा जो अनेक प्रकार के विश्वासो पद्धतियो और तकनीक से परे के इस जीवन आदोलन की खोज मे रुचि रखते थे । तब से लेकर 1981 तक वे लगातार अनेक देशो का परिभ्रमण करते रहे लोगो से मिलते रहे और उन्हे अपना प्रेम और अनुभूति बॉटते रहे ।

देखो और सुनो, पर विश्वास मत करो ।
तुम जिस बात को समझते नही, उसे दोहराओ मत ।
अपने प्रति ईमानदार बनो ।
यदि तुम्हारे हृदय मे यह ईमानदारी और सादगी
होगी तो सत्य स्वय आकर तुम्हारा दरवाजा खटखटाएगा ।

—**डॉ० आर०पी० कौशिक**



हिमाचल पुस्तक भण्डार